
कथा संग्रह
धूप स्पर्श
लेखक
व्रजेश दवे

धूप स्पर्श

(कथा संग्रह)

व्रजेश दवे

समर्पित-

पर्णों पर

अटके हुए

वर्षा बिंदुओं को

धूप स्पर्श -
हिन्दी कथा संग्रह
@2026
प्रकाशक -
व्रजेश दवे
(91) 95108 45218
(91) 94260 41107

वर्ष- 2026

धूप के न जाने कितने रूप हैं!

उषा की धूप, संध्या की धूप।

दोपहरी की धूप।

वर्षा के पूर्व की धूप, वर्षा के थम जाने के पश्चात खिली धूप।

ग्रीष्म की धूप, वसंत की धूप, शरद की धूप, शिशिर की धूप, हेमंत की धूप।

कोई भी हो, धूप का स्पर्श मानव तन और मन को कुछ न कुछ दे जाता है। ऐसे ही विविध स्पर्शों के साथ यह कथा संग्रह ***धूप स्पर्श*** सहृदयों के लिए प्रस्तुत है।

धन्यवाद।

विनीत

व्रजेश दवे

95108 45218

94260 41107

Dave.vrajesh@gmail.com

-: अनुक्रम :-

1] ये धाराएं

“इस खीर को फ्रिज में रख दोगे?” पत्नी ने मुझ से कहा। खीर का पात्र लेकर मैं फ्रिज के समीप गया। उसका द्वार खोला और भीतर देखने लगा। कुछ क्षण मैं यूं ही द्वार खोलकर खड़ा ही रहा तो उसने कहा, “खीर रखकर फ्रिज का द्वार बंद कर दो। ऐसे द्वार खुला रखने पर विद्युत ऊर्जा नष्ट हो जाती है और बिजली का बिल भी अधिक आता है।”

मैंने उसे देखा। मैंने फ्रिज का द्वार बंद कर दिया।

“अब ठीक है?”

“क्या ठीक है? खीर तो फ्रिज में रखी ही नहीं?”

सहसा मेरा ध्यान गया कि खीर का पात्र तो अभी भी मेरे हाथों में ही था।

“कैसे रखता? कहाँ रखता? भीतर तो सब कुछ पूरा भरा है।”

वह समीप आई, मेरे हाथ से खीर का पात्र ले लिया, द्वार खोला, भीतर के पात्रों को आगे पीछे करने के पश्चात खीर का पात्र रख दिया। द्वार बंद कर दिया, मेरे सामने आकर मुझे देखने लगी।

उन आँखों के भावों को देखकर, समझकर मैंने चुप रहना ही उचित समझा।

“इतने से काम की भी मैं आपसे अपेक्षा नहीं रख सकती।” वह बड़बड़ाई।

“वो क्या है न श्रीमती जी…।”

मेरी बात को काटते हुए कहा, “क्या है?”

“यहाँ हमें आए हुए महिना भर ही हुआ है, इतने में यह फ्रिज सारा कैसे भर गया? इसमें क्या है?”

“दूध, दही, सब्जी, फल, काजू, बादाम, मसाले, आटे आदि।”
“बस इतना सा? इतने में ही यह पूरा भर गया?”
मैंने व्यंग किया किन्तु उसने उसे समझा नहीं या समझते हुए नकार दिया।
“यह फ्रिज अब छोटा पड रहा है, हम नया और बड़ा फ्रिज ले लें तो?” उसने कहा।
“बड़ा फ्रिज?”
“चलो, आज ही चलते हैं, ले आते हैं बड़ा वाला। पड़ोसी के यहाँ मैंने देखा है। अच्छा है। आज दोपहर में चलें?”
उसने मेरा हाथ पकड़ा और स्मित का तीर चला दिया।
‘काम निकलवाने की स्त्रियों की भाव भंगिमाएं घातक होती हैं।’ मैं मन ही मन बोला। प्रकट रूप से कहने का इतना साहस किस पुरुष में होता है जो मैं प्रकट रूप से बोल पाता?
मैंने धीरे से ही पूछा-
“बड़ा क्यों? यह पर्याप्त तो है।”
“कहाँ पर्याप्त है? आपने ही अभी अभी देखा न कि खीर का पात्र रखने के लिए रिक्त स्थान ही नहीं था।”
“किन्तु आपने तो वह स्थान ढूंढ लिया न, श्रीमती जी?”
“मिथ्या प्रशंसा क्यों करते हो?”
“फ्रिज में कल की सुबह की दाल, शाम की खिचड़ी, दो दिन पूर्व बनी मिठाई तो रखी होगी न आपने?”
“हाँ, रखी हैं।”
“और फल और सब्जी भी?”
“पूरे चार पाँच दिनों तक चले इतने दूध, दही भी रखा है। इसी लिए तो कहती हूँ कि बड़ा फ्रिज ले ही लेते हैं।”

“बडे फ्रिज में चार पाँच दिन के स्थान पर आठ दस दिनों का सामान रख लोगी?”

“हाँ, दस दिनों तक बाजार में जाना ही नहीं पड़ेगा।”

“अच्छा? ऐसा है क्या?”

“यही तो।”

“आओ, उधर बैठते हैं। झूले पर। वहीं बात करते हैं।”

मैं झूले पर पहुँचूं उससे पूर्व ही वह झूले पर बैठ गई। मुख पर प्रसन्नता और अपेक्षा के भाव मैंने पढ़ लिए। मैं भी झूले पर बैठ गया।

“हम कितना बड़ा और कौन सी कंपनी का फ्रिज लेंगे?”

उसका प्रश्न सीधा था किन्तु मेरे पास उसका सीधा सरल उत्तर नहीं था। कुछ विचार कर मैंने कहा, “घर से पाँच मिनट की दूरी पर सब्जी मंडी है। वहीं दूध दही की भी दुकान है। छोटा सा अपना गाँव है। प्रतिदिन ताजे फल-सब्जी-दूध-दही सीधे किसानों के यहाँ से आते हैं। तो हमें इन सबका संग्रह नहीं करना चाहिए।”

“उसके लिए प्रतिदिन बाजार जाना पड़ेगा न?”

“तो क्या हुआ?”

“ये क्या? उठते ही बाजार जाना?”

“ऐसा कष्ट करने की आपको आवश्यकता नहीं है। मैं जो हूँ। मैं ही चला जाऊंगा। इससे चलना घूमना हो जाएगा, लोग भी मिल जाएंगे, गाँव की सारी बातें भी जान सकेंगे और निवृत्ति में कुछ समय भी कट जाएगा।”

“ऐसे बात घुमाने से सीधे सीधे नए फ्रिज के लिए ना कह देते।”

वह झुले से उठ गई, भीतर चली गई।

आप तो जानते ही हैं कि पत्नी के रूठने पर बाकी का दिन कैसे बीतता है। जैसे तैसे मेरा वो दिन तो बीत गया। किन्तु कुछ दिनों में ही हमारे घर नया और बड़ा फ्रिज आ गया।

दिन तो और भी कई बीत गए।

एक दिन जब मैं झूले पर बैठ आँगन के पुष्पों को देख रहा था तो वह भी मेरे समीप आकर बैठ गई। कुछ क्षण तो वह भी उन पुष्पों को देखती रही ऐसा मुझे लगा। तो मैंने उसके मुख के भावों को देखना चाहा। मैंने जैसे ही उसको देखा, वह बोल पड़ी।

“आपका इतना अनुभव है। आप बड़े अधिकारी भी रह चुके हो। आप जानते हो, आपके ज्ञान का मूल्य है और अनेकों को इसकी आवश्यकता है?”

वह रुक गई और मुझे किसी विशेष दृष्टि से निहारने लगी। मेरे मुख पर प्रश्नार्थ था।

“तो हम महानगर चले जाते हैं। वहाँ रहेंगे। वहाँ आपके अनेक परिचित भी हैं। वहाँ जिन्हें आवश्यकता है उनका आप परामर्श करते रहना। उनको भी लाभ होगा और हमारी भी आय होती रहेगी।”

मैं पुन: उसे प्रश्नयुक्त भावों से देखने लगा।

“सोचो, इतनी आय हमारे कितनी काम आ सकती है।”

उसने चुटकी बजाई और नयनों को नचाते हुए मुख पर स्मित उगाया। क्षणभर मैं उसे देखता रहा, सोचता रहा और अंत में मैंने भी स्मित से प्रत्युत्तर दिया।

“देवी जी, हमें अच्छा निवृत्ति वेतन मिल रहा है। व्याज की भी कुछ आय है। क्या इतनी राशि पर्याप्त नहीं है? हमारे शेष जीवन के लिए और क्या चाहिए?”

“किन्तु इससे भी अधिक आय मिले तो कैसा लगेगा? आपका निवृत्ति का समय भी कट जाएगा।”

“समय काटने के लिए मेरे पास कई काम हैं। आप देखती हैं न कि पूरा दिन मैं अपने कार्यों में व्यस्त रहता हूँ?”

“उन पुस्तकों में पूरा दिन क्या क्या पढ़ते रहते हो आप?”

“उसे ग्रंथ कहते हैं।”

“तो ग्रंथों में क्या क्या पढ़ते रहते हो?”

“मेरे जिस ज्ञान की आप बात कर रही थी उससे भिन्न ज्ञान होता है उन ग्रंथों में।”

“कैसा ज्ञान?”

“पचास के होने के पश्चात मनुष्यों को वानप्रस्थ ग्रहण कर लेना चाहिए।”

“ये वानप्रस्थ क्या होता है?”

“धीरे धीरे संसार के दायित्वों को संतानों को सौंप देना चाहिए। आत्म उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। धन संचय नहीं करना चाहिए। संसार के मोह को त्याग कर ईश्वर में मन प्रवृत्त करना चाहिए।”

“पूजा पाठ तो करती हूँ न मैं?”

मैं हंस पड़ा।

“किन्तु आप तो कभी पूजा पाठ नहीं करते। न ही कभी मंदिर जाते हो।”

“मंदिर जाना, पूजा पाठ करना ईश्वर से जुडने का प्रथम स्तर है। इसके आगे भी अनेक स्तर हैं। मैं उस मार्ग पर चल पड़ा हूँ।”

“कैसे? मैं भी तो जानूँ।”

“मोह का त्याग, सादगी भरा जीवन, इंद्रियों पर नियंत्रण...।”

“और?”

“वन में गमन, समाज की सेवा भी इसी मार्ग के बिन्दु हैं।”

“तो क्या अब आप मुझे छोड़कर वन में चले जाओगे?”

“अभी तो ऐसा निश्चय नहीं किया है किन्तु सुख सुविधाओं को त्यागने का यत्न कर रहा हूँ।”

“क्यों ऐसा करते हो?”

“मेरा आधा वानप्रस्थ तो व्यतीत हो चुका है। वैसे तो आपका भी। तो ये सब अब तो करना ही होगा न?”

“इससे क्या होगा?”

“सन्यास आश्रम में प्रवेश सरल हो जाएगा।”

“तो आप सन्यास भी लेंगे?”
“अभी नहीं।”
“कभी?”
“जब मैं पचहत्तर का हो जाऊंगा तब।”
“सन्यास लेकर क्या मिलेगा?”
“मोक्ष। जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्ति।”
“आपको मोक्ष क्यों चाहिए ये मैं जानती हूँ। इस जन्म में आप मुझ से दु:खी हो गए हो इसी लिए न?” वह रोने लगी।
मैं समझ नहीं सका कि उसका रोना, मेरा मोक्ष की बात करना और हमारा विवाहित जीवन इन सभी का आपस में क्या संबंध है। उसी दुविधा में मैं उसे देखता रहा।
“अब मुझे रोती हुई को शांत कराने का भी आपने त्याग कर दिया? वानप्रस्थि जो हो गए हो आप? मेरे तो...।”
वह आगे कुछ भी विलाप करे उससे पूर्व मैं उसके लिए पानी ले आया। उसकी पीठ पर हाथ रख दिया। उसने पानी पिया और शांत हो गई।
“आप मुझ से भाग रहे हो न? क्या मैं इतनी कर्कशा हूँ?” वह पुन: रोने लगी।
मैं निरुत्तर रहा। पीठ पर हाथ फेरता रहा। दिन वह भी बीत गया।
“घर का यह सोफ़ा, टेबल और कुर्सियाँ पुरानी हो गई हैं। इन्हें बदल डालते हैं।” उसने एक दिन नया प्रस्ताव रख दिया। मेरा ध्यान सोफ़ा, कुर्सी और मेज पर गया।
“पुराने तो हो गए हैं किन्तु अभी..।”
“अभी नहीं तो कभी?”
“मुझे पूरा बोलने का अवसर मिलेगा, देवी जी?”
“बोलो जो बोलना हो, मुझे तो सुनना ही पड़ेगा।” वह सोफ़े पर जा बैठी। मैं समीप गया।

“अभी एक दो दिन के पश्चात सुथार को बुला लेंगे।”

“आज ही बुला नहीं सकते?”

“कल बाजार में मिला था तो कह रहा था कि दो दिन के लिए वह कहीं बाहर जा रहा है। नहीं तो आज ही बुला लेता। उसे आ जाने दो।”

“ठीक है।” वह प्रसन्न हो गई। “सोफा कौन से रंग का अच्छा लगेगा? कुर्सी टेबल श्वेत रंग के नहीं लेना अब की बार। कोई अच्छा सा रंग पसंद करना। उस रंग के अनुसार घर की सारी टाइल्स भी बदल देंगे।”

श्रीमती जी के नए प्रस्ताव से मैं चौंक गया।

“टाइल्स क्यों बदलनी हैं? अच्छी तो है।”

“लंबे समय से इसे देखते देखते मन भर गया है। कुछ नया देखने को मन कर रहा है।”

“नया?”

“हाँ, पुराना कभी तो बदलना होगा।”

“पुराना तो मैं भी हो गया हूँ, मुझे भी …।” मैं अपनी बात पूरी करूँ उससे पूर्व ही वह चली गई।

एक दिन सुथार आया। और हमारे घर नया सोफ़ा, नया बड़ा टेबल और चार के बदले छः कुर्सियाँ आ गई। घर की टाइल्स भी बदल गई। मैं अनासक्त भावों से सब देखता रहा।

जैसे जैसे मैं ग्रंथों को पढ़ता गया, संसार की स्थूल बातों से रुचि अल्प होती गई। घर, घर की वस्तुएं, लोग, संबंध आदि से मैं कटता जाने लगा। वह अधिक से अधिक इन सब में उतरती चली गई।

“हमारी ये गाड़ी यूं ही पड़ी है। तो…।” वह एक दिन आकर बोली।

“तो इसे बेच डालते हैं।” मैंने ग्रंथों से मुख उठाते हुए कहा।

“ठीक है, नई ले आते हैं।”

“इस छोटे से गाँव में गाड़ी की आवश्यकता नहीं है। तो नई क्यों लेनी है?”

“नई गाड़ी में हम घूमने चलेंगे।”

“क्या आप नई गाड़ी चलाओगी?”

“मैं क्यों? आप ही चलाएंगे।”

“मैं तो अब वृद्ध हो चला हूँ। आप से तो वृद्धावस्था अभी कहीं दूर है।”

“आप भी न? चलो मैं चला लूँगी। कब लाते हैं नई गाड़ी?”

“मैं सोचता हूँ कि....।”

“कि आज ही ले आते हैं। हैं न?”

“अपनी यौवन से भरी ऊर्जा को थोड़ा नियंत्रण में रखो, देवी जी।”

उसने अपने मुख को अपनी दोनों हथेलियों के पीछे छिपा दिया।

“आपके लिए गाड़ी और मेरे लिए साइकल ले आते हैं।”

मेरी बात सुनते ही उसने झट से अपनी दोनों हथेलियों को मुख पर से हटा दिया। मुख पर अभी भी रक्तिमा थी किन्तु क्षण पूर्व की रक्तिमा से वह भिन्न थी।

“साइकल? आप इतने बड़े अधिकारी होकर सारे गाँव में साइकल पर घूमेंगे? कैसा लगेगा?”

“अब मैं कहाँ अधिकारी हूँ? मैं तो निवृत्त हो चुका हूँ। आप भूल गई क्या?”

“भूलना ही पड़ा है सब कुछ।”

“क्या क्या भूलना पड़ा है आपको?”

“वह विशाल सरकारी मकान, वहाँ की सारी सुविधाएं, सारे सुख वैभव, बड़ी गाड़ियों में घूमना, बड़े बड़े लोगों से मिलना, पार्टियों में जाना। क्या प्रतिष्ठा थी हमारी? सब कुछ भूल गई हूँ मैं यहाँ इस छोटे से गाँव में आकर।”

“जिसे आप हमारी प्रतिष्ठा कहती हैं वह हमारे पद की थी, हमारी नहीं। वह हमारा भूतकाल था, यह हमारा वर्तमान है। अब उस से मोह कैसा? उसे त्याग दो।”

“ठीक है। त्याग दिया उस मोह को। किन्तु हम नई गाड़ी तो ले रहे हैं न?”

और हमारे घर पुरानी गाड़ी के स्थान पर नई गाड़ी आ गई। वह प्रसन्न थी। "चलो, आज नई गाड़ी से कहीं दूर चलते हैं घूमने।" वह चालक बैठक पर बैठ गई। मैं भी बैठ गया। हम लंबी यात्रा से जब लौट आए तो उसने पूछा, "कैसा रहा इस नई गाड़ी का अनुभव?"

"आपको कैसा लगा इसे चलाकर?"

"मुझे तो बड़ा आनंद आया। हम कल भी चलेंगे। किन्तु आप तो अपने इस ग्रंथ को ही पढ़ते रहे पूरे मार्ग में। आप ग्रंथों को न पढ़ा करें।"

"क्यों?"

"ग्रंथ भ्रमित करते हैं।"

"ये आपने कैसे जाना?"

"सुना है।"

"आपने स्वयं कोई ग्रंथ पढ़ा है कभी?"

"नहीं तो?"

"एक बार पढ़ लो, समझ लो। तब आप भी मानोगी कि ग्रंथ भ्रमित नहीं करते, भ्रम को नष्ट करते हैं। भटके हुए को उचित मार्ग दिखाते हैं। पढ़ोगी क्या?"

"नहीं, मुझे नहीं पढ़ना वह सब।"

वह चली गई।

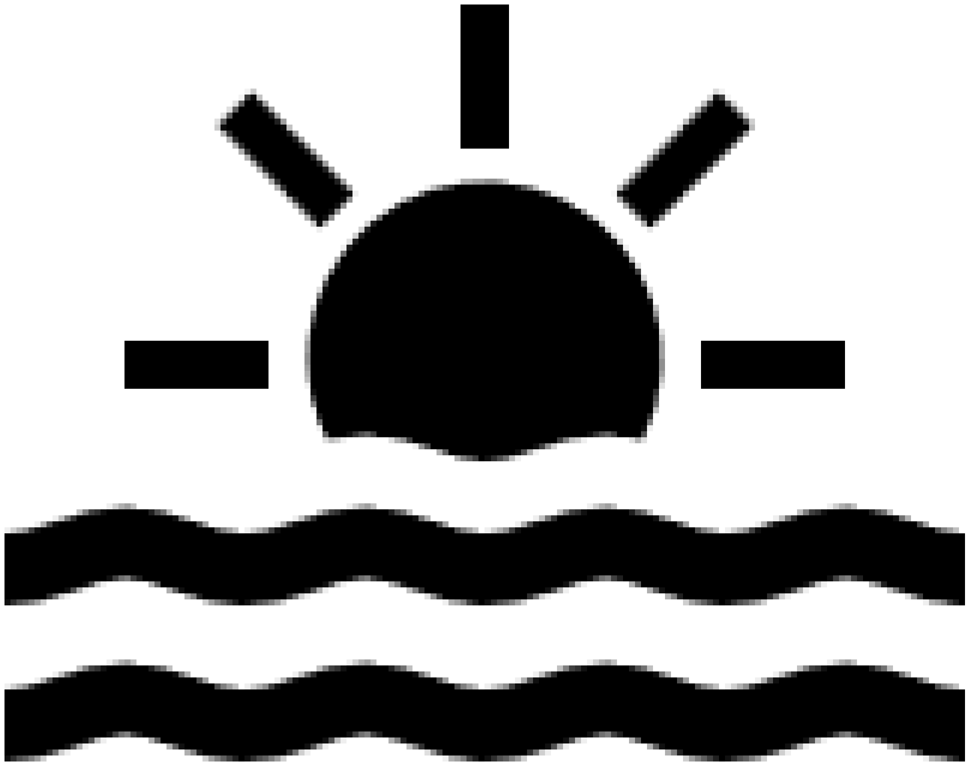
रात्रि भर मैं विचारता रहा।

'मैं धीरे धीरे सब कुछ त्यागना चाहता हूँ, त्यागता जा रहा हूँ। वह अधिक से अधिक मोहग्रस्त होती जा रही है। घर में, घर की वस्तुओं में, बीते हुए कल के स्मरणों में वह घिरती जा रही है।

मैं क्षण प्रतिक्षण इन सब से दूर जा रहा हूँ और वह उसी में डूबती जा रही है। हम दोनों के मन में दो विपरीत धाराएं बह निकली है। दोनों धाराएं प्रबल हैं, प्रचंड हैं।

चाहकर भी कोई कैसे रोक सकता है उन धाराओं को जो तीव्र वेग से अपने उद्‌गम से निकलकर चल पड़ी है अपने गंतव्यों की तरफ?

सम्पन्न



2] बाजार में

पाँच मिनिट की प्रतीक्षा करते करते पुरे सेंतालीस मिनिट के पश्चात मैं पुस्तक प्रकाशक महोदय के कक्ष में उनके सामने बैठा था। वैसे इतनी लंबी प्रतिक्षा का अब मैं आदी हो चुका था तो इस विलंब से मैं विचलित नहीं था।

“तो आप अपनी पुस्तक छपवाना चाहते हो?” प्रकाशक ने मुझे देखते ही कहा।

“जी।” मैंने उत्तर दिया।

“किस विषय में पुस्तक छपवानी है?”

सेंतीस प्रकाशकों से मिलने के पश्चात अब इतना तो समज में आ चुका था कि पुस्तक के विषय के विषय में अभी बोलना नहीं है।

“पुस्तक के पृष्ठों की संख्या एक सौ पैंतीस है। और..।”

“आपने पुस्तक के विषय में मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया?”

“उसे हम अंत में रखें तो?”

“तो बात आगे कैसे बढ़ेगी?”

“प्रथम हम पुस्तक छपवाने की प्रक्रिया की चर्चा कर लें तो?”

वह कुछ घड़ी मुझे देखता रहा। उसने एक गहरी सांस ली।

“ठीक है। क्या वह पुस्तक आपने लिखी है?”

“लिखी तो मैंने ही है किन्तु लिखवाई किसी और ने है।”

“पुस्तक आपकी नहीं है?”

“नहीं। पुस्तक मेरी ही है। मैंने ही लिखी है।”

“अभी अभी आपने कहा कि किसी और ने लिखवाई है?”

“सत्य कहा है मैंने।”

“वह कैसे?”

“कभी कोई सर्जक कोई पुस्तक लिखता है तो प्रथम दृष्टि से हमें और उस लेखक को भी ऐसा लगता है कि वही उस पुस्तक को लिख रहा है। वास्तव में कोई और ही उससे वह लिखवा रहा होता है।”

“यूं शब्दों में उलझाए बिना स्पष्ट स्पष्ट कह सकते हो?”

मैं मंद मंद हंसा।

“वास्तव में कोई अन्य अदृश्य शक्ति ही लेखक के माध्यम से सर्जन करवाती है।”

“समज गया मैं।”

उसने मुझे किसी अज्ञात भाव से देखा। मैं जान गया कि मेरी बातों से वह प्रसन्न नहीं था। मैं क्षण भर मौन रहा।

“तो हम आगे बढ़ें?” उसने मौन भंग किया।

“जी।” मैंने भी मौन भंग में उसका साथ दिया।

“कितनी प्रत छपवानी है? कौन से कागज पर छपवानी है? श्वेत श्याम में या रंगीन छपवानी है?”

“आप को जो उचित लगे उसमें छाप देना।”

“नहीं। वह निर्णय तो आपको ही लेना होगा।”

“मुझे?”

“और नहीं तो क्या?”

“आप नहीँ ले सकते?”

“क्या आप अपनी पुस्तक की हस्तप्रत साथ लेकर आए हो?”

“जी। मेरे साथ ही है।”

“मैं देख सकता हूँ उसे?”

“अवश्य। किन्तु उससे पूर्व पानी मँगवा लीजिए।”

उसने किसी को पुकारा।

“श्रीमान के लिए पानी लाना।”

कोई दो प्याले पानी छोड़ गया।

“श्रीमान, लीजिए आप के लिए पानी।”

“पानी तो मैंने आपके लिए मँगवाया है। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है।”

“मेरे लिए क्यों?” उसके प्रश्न में मेरे लिए कोई अज्ञात संदेह छिपा था।

“मेरी हस्तप्रत देखने के पश्चात आपको इसकी आवश्यकता पड़ेगी।”

मेरी बात सुनकर मुझे विचित्र भाव से वह देखने लगा। उस दृष्टि में असाधारण भाव थे। मैंने उन भावों को अब पढ़ना सिख लिया था। सैंतिस प्रकाशकों के अनुभवों के पश्चात ऐसे भावों से मैं विचलित होनेवाला नहीं था।

“दीजिए, अपनी पुस्तक दीजिए मुझे।”

उसने हाथ बढ़ा दिया। मैंने झोली में से निकालकर हस्तप्रत उसकी तरफ बढ़ा दी। एक दो क्षण उसने उसे देखा और अपने हाथों में ले ली। मुझे लगा कि अभी वह उसे खोलेगा और पढ़ेगा। किन्तु उसने उसे अपने बाएं हाथ पर रख दी।

मैं कुछ क्षण प्रतीक्षा करने लगा। कभी हस्तप्रत को, कभी प्रकाशक को तो कभी पानी भरे प्याले को देखता रहा। उसने हस्तप्रत पढ़ने के कोई संकेत नहीं दिए। मेरा धैर्य टूटने वाला ही था किन्तु मैंने स्वयं को संभाल लिया। मैं भी प्रतीक्षा करने लगा। उसके धैर्य की परीक्षा लेने लगा।

अंतत: मेरे धैर्य के सामने उसका धैर्य हार गया। उसने हस्तप्रत उठाई और पृष्ठ पलट दिया।

“बाजार में - दीर्घ कविता।” उसने शीर्षक पड़ा। मेरी तरफ देखा।

“यह तो कविता की पुस्तक है!”

मुझे इन शब्दों की ही अपेक्षा थी। मैंने स्मित से काम चलाया।

“क.. वि.. ता.. ।” उसने कहा।

“हम कविता की पुस्तकें नहीं छापते।” उसने पुस्तक बंद कर दी।

“जानता हूँ। किन्तु एक बार इसे पढ़ तो लें।”

उसने अनमन से पुन: उसे खोला। कुछ समय तक देखता रहा।

“इसमें कवि का नाम कहाँ है? कौन है इसके कवि?”

“मैं ही कवि हूँ।”

“तो अपना नाम शीर्षक के नीचे क्यों नहीं लिखा? क्या नाम है आपका?”

“नाम का कोई महत्व नहीं है, पुस्तक में वह भी छप जाएगा। आप कविता तो पढिए।”

उसने एक और पृष्ठ पलटा। कविता पढ़ने लगा।

“बाजार में

बिकता है सब कुछ।

सब कुछ का अर्थ जानते हो?

सब कुछ, हाँ वही सब कुछ।

किन्तु सब कुछ खरीदा तो नहीं जाता।

कुछ तो बिना बिके

पड़ा रह जाता है

जिसे कोई नहीं खरीदता।

जो बच जाता है बिकने से

वह महंगा नहीं होता

बस किसी को

उसकी आवश्यकता नहीं होती है।

जैसे.. ।”

जैसे शब्द पर वह अटक गया। मुझे पूछने लगा, “जैसे?”

“पृष्ठ पलटिए।”

मेरे कहने पर भी उसने पृष्ठ नहीं पलटा।

“बाद में पढ़ लूँगा।” उसने पृष्ठ बंद कर दिए।

“तो आप इसे छाप रहे हो न?”

“क्या मैंने ऐसा कहा?” उसने मुझे घूरा।

मैंने प्रत्युत्तर नहीं दिया।

“हम कविता की पुस्तकें नहीं छापते यह मैं कह चुका हूँ।”

“तो क्या छापते हैं?”

“कथाएं, उपन्यास, धार्मिक ग्रंथ, प्रेरणा पुस्तकें, प्रवास वर्णन, राजनीति जैसे पुस्तक छापते हैं हम।”

“कविता क्यों नहीं?”

“जानना चाहते हो?”

वह अपने स्थान से उठा। मुझे तीव्रता से देखने लगा। बिना किसी प्रतिक्रिया के मैं अपने स्थान पर बैठा रहा। सहसा वह शांत हो गया। अपने स्थान पर बैठ गया। प्याले से एक ही घूंट में सारा पानी पी गया।

“हम छाप देंगे। आपकी कविता की पुस्तक छप जाएगी। बोलो कितनी प्रत छाप दूँ? कौन से कागज पर छापना है वह निर्णय भी कर के बता दो।”

मैं अचंभित था।

‘सहसा यह इसे छापने के लिए क्यों मान गया?’

अपने कानों द्वारा सुने शब्दों पर मुझे संशय होने लगा। मैं अवाक सा उसे देखने लगा।

“आपने अपना निर्णय नहीं बताया।”

“क्या?”

“जितनी अधिक प्रत छपेगी, उतनी ही सस्ती पड़ेगी।”

“सस्ती?”

“हाँ, आपके बजट में इतनी बचत होगी।”

“मैं कुछ समझा नहीं?”

उसने मुख पर कपट मिश्रित स्मित के साथ कहा, “पाँच सौ से एक हजार प्रत छपवा लीजिए। उसका मूल्य खर्च से दुगुना रख लेंगे। जैसे जैसे बिकती जाएगी,

आपका पैसा निकलता जाएगा। हम सारी प्रतें आपको दे देंगे।" वह रुका। मुझे देखने लगा। मेरे भावों को अब वह पढ़ रहा था।

"एक बार पुस्तक के रूप - आकार आदि का निर्णय कर लो तो हम आपको बता देंगे कि कितना समय लगेगा और कितना खर्च आएगा।"

"खर्च? वह तो आपका विषय है।"

"नहीं, खर्च तो आपको करना है। आप जितनी कहो, जैसी कहो पुस्तक छप जाएगी। छपने के बाद आप उसे बेचते रहना।"

"क्या?" मैं उठ गया। "मेरी पुस्तक मुझे ही बेचनी होगी?"

"यही तो?"

"आप ये कहना चाहते हैं कि कविता भी करूं और मैं ही पुस्तक भी बेचूँ?"

"आप ठीक समजे। यही तो कह रहा हूँ मैं।"

"कवि हूँ मैं। कविता करूं या पुस्तक बेचूँ?"

"आपकी जो इच्छा हो, कीजिए।"

क्षण भर में ही मैं सारी स्थिति को समझ गया।

"क्या आप सभी पुस्तकें इसी प्रकार छापते हो? सभी सर्जक अपनी पुस्तकें स्वयं बेचते हैं?"

"सभी नहीं, कुछ कुछ।"

"कुछ कुछ क्या?"

"कविता की पुस्तकें कवि स्वयं बेचते हैं। बाकी पुस्तकें हम छापते भी हैं, बेचते भी हैं।"

"ऐसा क्यों करते हो?"

"कविताएं नहीं, कथाएं बिकती हैं। संवेदनाएं नहीं, घटनाएं बिकती हैं।"

"ये कथाएं, ये घटनाएं तो काल्पनिक होती हैं, अवास्तविक होती हैं। कविताएं, संवेदनाएं वास्तविक होती हैं, सत्य होती है, शुद्ध होती हैं।"

"शुद्ध? शुद्ध कौन खरीदता है आज कल?"

“क्यों नहीं खरीदता?”
“संवेदनाओं का कोई मूल्य नहीं होता है बाजार में। इसी लिए कविता का भी कोई मूल्य नहीं है।”
“कैसे नहीं है?”
“मानो या न मानो, कविराज। यही सत्य है।”
“मिथ्या है सब।”
“तो सत्य क्या है आप ही बता दीजिए।”
“जन्म से मृत्यु पर्यंत मनुष्य कविता ही करता है। कोई भी प्रसंग हो कविता के बिना उसकी शोभा नहीं बन पाती।
बालक को गीत गाकर मां सुला देती है। मृत्यु पर मृत्यु के गीत गाए जाते हैं। मिलन हो या विरह, सुख हो या दु:ख, उत्सव हो, कारण हो, कारण न हो- प्रत्येक मनोदशा में मनुष्य गीत ही गाता है।
मनुष्य जब कोई दृश्य देखता है तो उसकी संवेदनाएं जाग जाती हैं। अपने मन के भावों को प्रकट करने के लिए गीत गाता है। ये सारे गीत कविता ही तो हैं। और आप कहते हो कि कविता का कोई मूल्य नहीं है? संवेदना को कोई नहीं पूछता है? कविता बिकती नहीं है? कविता को कोई माँगता नहीं है?” मैं उत्तेजना में बोल गया।
थक गया।
अपने स्थान पर बैठ गया।
वह मुझे अनिमेष देख रहा था। ध्यानस्थ होकर मुझे सुन रहा था। मेरे शब्दों से वह विचलित नहीं था।
वह मेरे समीप आया। मेरे कंधे पर हाथ रखा। अनायास ही मैंने उसे देखा। वह पानी का प्याला लिए खड़ा था।
उसने मुझे पानी धर दिया। मैंने दो घूंट पिए और उसे टेबल पर छोड़ दिया।
“पूरा पानी आप ही के लिए है, पी लीजिए।” उसने कहा।

मैंने आँखें बंद कर ली, तत्क्षण खोल दी। गहरी सांस ली और बोला-

“मेरी बात अभी शेष है। सुनोगे?”

मंद हास्य के साथ वह अपने स्थान पर बैठ गया, मेरे शब्दों की प्रतीक्षा करने लगा।

“सृष्टि के प्रारंभ से ही मनुष्य गीत गाता रहा है। जब वह किसी भाषा को भी नहीं जानता था तब भी वह गुनगुनाता था।

सृष्टि की आदि रचना वेद की ऋचाएं भी गीत हैं। पूजा में मंत्रों का पढ़ना, ईश्वर की स्तुति करना, प्रार्थना करना, भजन कीर्तन करना, कविता ही है। मनुष्य अकेला हो या समूह में, कविता ही बोलता रहता है।

सभा में कविता पढ़ना, गझल के शेर पढ़ना, जिन्हें सुनकर श्रोताओं का वाह वाह करना, ताली बजाना आदि नहीं दिखता आपको?”

मैं रुक गया। उसे प्रश्न भरी दृष्टि से देखने लगा।

वह शांत था। उसने उसी शांति से कहा, “दिखता है। किन्तु वही श्रोता इन्हीं कविताओं या गझलों की पुस्तकें नहीं खरीदता।”

“चरवाहा भी गीत के माध्यम से ही पशुओं से संवाद कर लेता है। चरवाहा का गीत, उसकी कविता पशु तक समझ लेते हैं। तो क्या मनुष्यों की संवेदना पशुओं से भी अल्प है?

कविता के बिना संगीत की कल्पना नहीं हो सकती। जीवन के प्रत्येक स्पंदन में गीत बसा है, कविता बसी है। और आप कहते हो कि कविता नहीं बिकती? क्यों?”

“आपके सारे तर्क अपने स्थान पर उचित हैं, सत्य भी हैं। किन्तु एक सत्य यह भी है कि कविताएं बिकती नहीं है। कविताएं बिकाऊ नहीं होती। यदि होती तो मैं छापता नहीं? मैं तो व्यापारी हूँ।” उसके मुख पर एक व्यापारी का भाव उभर आया।

“आपने यह तो माना कि कविता के विषय में मेरे तर्क.. ।”

“मेरे मानने से कुछ नहीं होगा। ये सारे तर्क मुझे नहीं जनता को, पाठकों को, खरीददारों को समझने होंगे। वे मानेंगे तभी.. ।”

“हम दोनों मिलकर यह कार्य करें तो?”

“तो भी कुछ नहीं होगा।” वह मुझे देखने लगा। मैं दुविधा में उसे देखता रहा।

“कथा और कविता में अंतर है। संवेदना और घटना में भेद है। कथाएं और घटनाएं शोर करती हैं, कोलाहल करती हैं। पाषाण की विशाल शीला की भांति दूर से दिख जाती हैं। इस प्रकार वह दूर से ही अपनी तरफ आकृष्ट करती है। वे कठोर होती हैं, अडिग होती हैं। पाठक उसकी मोहिनी में बंधा चला आता है। कविताएं और संवेदनाएं मौन रहना जानती हैं। कोई शोर नहीं, कोई कोलाहल नहीं। घास पर पड़ी ऑस की बूंदों की भांति शांत और स्थिर। कोमल और मृदु। न तो वह दूर से दिखती है न ही किसी को अपनी ओर आकृष्ट करती है। बाजार में तो वही बिकेगा जो शोर मचा सके।”

वह कुछ क्षण मौन हो गया। वही मौन हमारे मध्य उस कक्ष में आकर बैठ गया।

सहसा वह उठा और दूर पड़ी पुस्तकों में से एक पुस्तक उठाकर मुझे दे दी। मैं अन्यमनस्क सा उसे देखता रहा।

“इस पुस्तक को देखो। कविता की पुस्तक है। मेरी कविताओं की पुस्तक है। कभी मैं भी कवि था। कविताएं करता था। और पुस्तक भी छाप ली। किन्तु उस अंबार को देखो। सारी की सारी यहीं पड़ी है। बिकी ही नहीं।”

उसके शब्दों से मैं चौंक गया।

‘प्रकाशक की अपनी पुस्तक नहीं बिकी?’

“तो यह सत्य है?”

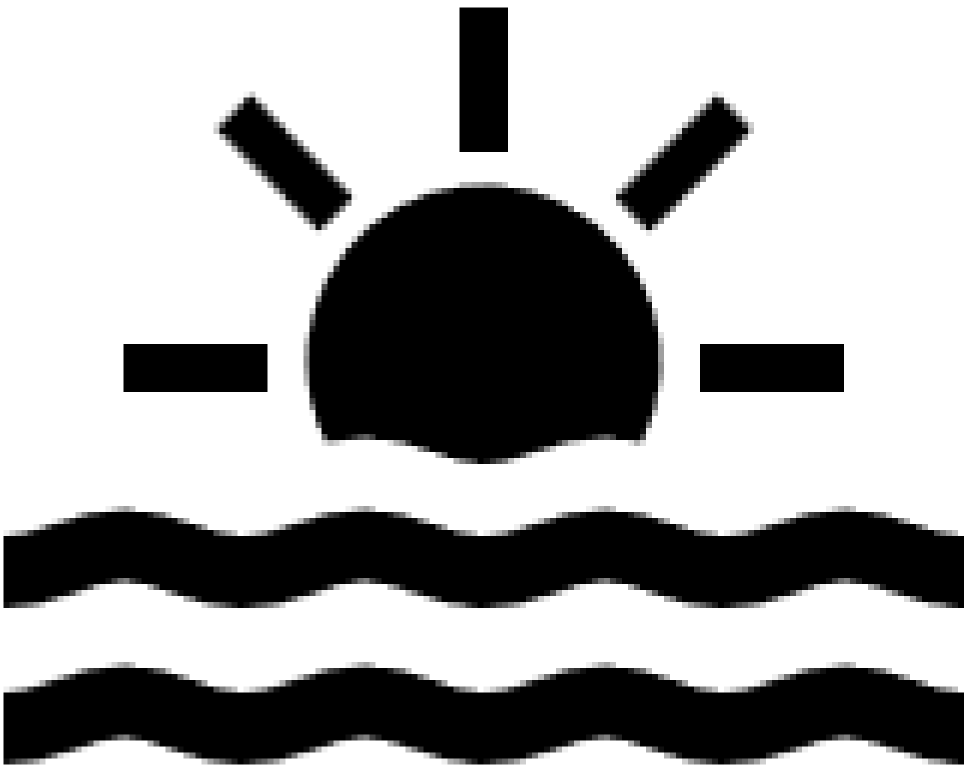
उसने उत्तर नहीं दिया।

“तो आपने कविता करनी छोड़ दी?”

“कैसे छोड़ सकता हूँ? कवि जो हूँ।”

“तो?”
“जब भी कोई नई कविता जन्म लेने को चाहती है मैं उसे जन्म देता हूँ।”
“क्या करते हो आप उन कविताओं का?”
“मैं उन्हें कहीं छोड़ आता हूँ।”
“कहाँ?”
“नदी, सागर, पहाड़, झरने, वृक्ष, धूप, पुष्प, मरुभूमि, ऑस से भीगी किसी घास और...।” वह अटक गया।
“और कहाँ?”
“कभी किसी मंदिर में ईश्वर के पास या उसके समीप जलते दीपक के पास।”
“कौन सी कविता कहाँ छोड़नी है वह आप कैसे निर्णय करते हो?”
“कविता स्वयं उसका निर्णय करती है, मैं बस उसका पालन करता हूँ।” उसने मुझे देखा। क्षण भर के पश्चात बोला, “इनसे बढ़कर कविता के भावक कहाँ मिल सकते हैं?”
मेरी दृष्टि मेरी कविताओं की हस्तप्रत पर पड़ी। मैंने उसे उठाया और वहाँ से चल दिया।
हस्तप्रत के अंतिम पृष्ठ पर मैंने लिखा-
“अपनी कविता लिए
आज भी कवि खड़ा है
किसी खरीददार की प्रतीक्षा में
बाजार में।”
हस्तप्रत बंद कर उसे मैं छोड़ आया किसी घास में, ऑस में नहाने के लिए।

सम्पन्न



3] टूटा फुटा

उस दिन खेत में काम पर नहीं जाना था तो मैं विलंब से जागा था। आँगन में जाकर मैं उसे खोजने लगा। वह कहीं नहीं दिखी। मैंने इधर उधर देखा।

'वो दो घड़े यहाँ नहीं है। निश्चय ही वह उसे लेकर नदी पर पानी भरने के लिए गई होगी।'

वैसे तो घर तक नल और नल से जल आए कुछ ही दिन हुए थे तो नदी से अब पानी लाने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु नल से जल से उसे संतुष्टि नहीं थी।

"नदी के बहते जल में जो ऊर्जा है वह इस नल के जल में कहाँ? मुझे तो यह नल का पानी स्वाद विहीन लगता है। मैं तो नदी से ही पानी लाऊँगी।" वह कहती।

मैं उत्तर देता- "इतना कष्ट क्यों करना है?"

"दूसरे कामों के लिए मैं नल का जल चला लूँगी किन्तु रसोई के लिए और पीने के लिए तो नदी का जल ही उपयोग करूंगी।"

और वह निकल पड़ती थी दो घड़ों को लेकर नदी की तरफ।

कुछ दिन पूर्व ही उसने पाँवों में नए नूपुर पहने थे। उस नूपुर के झंकार का ध्वनि उसे अत्यंत पसंद था। तभी तो वह बिना कारण भी चलती रहती थी। नूपुर से संगीत सर्जती रहती थी।

एक बात कहूँ?

मुझे भी तो उस नूपुर का संगीत आकर्षित करता रहता था। यह बात उसे भी ज्ञात थी।

जब वह नदी के पानी से भरे दो घड़ों को लेकर चलती थी तो उन घड़ों के भीतर रहे जल का ध्वनि और उसके नूपुर का ध्वनि, दोनों मिलकर किसी गन्धर्व कन्या द्वारा रचित मधुर संगीत सा प्रतीत होता था।

कभी कभी मुझे लगता था कि हो न हो, पिछले जन्मों में से किसी जन्म में वह अप्सरा रही होगी। किसी गांधर्व के संगीत पर ऐसे ही चलती होगी। मेरे लिए तो इसी जन्म में वह अप्सरा थी और मैं कोई ध्यानी तो था नहीं कि उसके मोह से वशीभूत न होता।

मैं अपनी अप्सरा के नूपुर और घड़ों के संगीत की लालसा में प्रतीक्षा करता आँगन में बैठा रहा।

आँगन में कुछ फूल खिले थे। उस पर ऑस की कुछ बूंदें अभी भी चमक रही थी। इसी प्रकार एक दिन हमारे जीवन में भी एक पुष्प खिलेगा, आँगन में बैठकर हम उसके साथ क्रीडा करेंगे। ऐसे विचारों में मेरा मन मगन था।

उसी विचारों में दूर से नूपुर की धीमी ध्वनि मेरे कानों में घुसने लगी। उसके साथ घड़ों के जल के छलकने की ध्वनि भी घुल गई। मैं उसकी मोहिनी में बंध गया। मैंने आँखें बंद कर ली। अन्य सभी ध्वनियाँ शांत हो गई। कानों में केवल नुपर और घड़ों के जल की ध्वनि उतरने लगी।

पद पद पर ध्वनि निकट आ रही थी। मेरे हृदय के स्पंदन भी घड़ों के जल की भांति उछल रहे थे। धीरे धीरे हृदय के स्पंदनों ने उस ध्वनि के साथ ताल मिला लिया। मैं आह्लाद की उच्च अनुभूति में खोने लगा।

सहसा मेरे कानों ने अन्य ध्वनि को पकड़ा - धड़ाम।

सभी मधुर ध्वनि बिखर गई। शेष रही केवल कर्कश ध्वनि- धड़ाम ..।

जैसे कुछ गिरा, कुछ टूटा, कुछ फूटा!

झट से मेरी आँखें स्वत: खुल गई। जो दृश्य मेरी आँखों ने देखा वह भयावह था। मेरे मन पर आघात ने घात कर दिया। क्षण भर मुझे कुछ न सुझा, बस उस दृश्य को ही देखता रहा।

एक तरफ गिरकर टूटकर बिखरे हुए दो घड़े थे। उनमें से पानी बह रहा था। बहता पानी जहां जा रहा था मैंने वहाँ देखा। कोने में पड़े नए गद्दे उस पानी में स्नान कर रहे थे।

मैंने उसे देखने के लिए दृष्टि घुमाई। वह घर के आँगन में गिरी पड़ी थी। पीड़ा से चीख रही थी। रो रही थी। घड़ी भर में ही मुझे संज्ञान हो गए कि उसके पाँव में ठेस लगने से वह गिर पड़ी है। माथे से छिटक कर घड़े भी नीचे गिरे हैं और टूट गए हैं। अपने भीतर समेटे नदी के जल को घड़ों ने निर्बाध कर दिया है। उसी जल से गद्दे भीग रहे हैं। और वह आँगन में पैरों को पकड़कर रो रही है। क्षण का भी विलंब न करते हुए मैं उसके पास दौड़ गया। उससे मैंने कुछ भी नहीं कहा, कुछ भी नहीं पूछा।

मैंने उसकी तरफ हाथ बढ़ा दिया, उसने पकड़ लिया। वह उठी और धीरे धीरे घर के भीतर आई। उसके माथे पर हाथ फेरा। उसे पानी दिया।

“पैरों में मोच आ गई है।” उसने इतना ही कहा।

मैनें तेल गरम किया, उसमें हल्दी मिलाई और मोच वाले स्थान पर उसे धीरे धीरे मलने लगा। उसे शांत होने में समय लगा, मैंने उसे समय दिया। जब वह शांत हो गई तो मैंने कहा, “तुम आराम करो। घर का सब काम आज मैं कर दूंगा।” उसने स्मित किया। मेरा मन शांत हो गया।

मैं बाहर आया। घड़ों का पानी अब पूरा बह चुका था। टूटे घड़ों के अवशेष इधर उधर बिखरे पड़े थे। गद्दे पूरी तरह से जल मग्न हो चुके थे।

‘कल ही तो नए गद्दे लाए थे। उस पर अभी एक बार भी हम दोनों सोये नहीं थे। सब भीग गया। गद्दे भी, साथ सोने की अपेक्षा भी।’

अपने विचारों को समेटते हुए मैंने टूटे घड़ों के अवशेषों को भी समेटा। पानी को सुखाया। गद्दे की तरफ मुड़ा। उसे क्षण भर तृष्णा से देखा। भीगे गद्दे को भीगे मन से विदा कर दिया।

आँगन में अब सब कुछ ठीक था, सामान्य था। केवल गद्दे वहाँ नहीं थे। आँगन पर एक दृष्टि डालकर मैं भीतर चला आया।

भीतर वह बैठी थी, शांत और स्थिर मुद्रा में। मुख पर से पीड़ा की रेखाएं लुप्त हो चुकी थी। सारी पीड़ा भी कहीं दूर देश चली गई थी। मैं उसके मुख को,

उसके पीड़ाग्रस्त पैर को देखता रहा। सब कुछ सामान्य था। जैसे कुछ घटा ही न हो।

‘इतने अल्प समय में पीड़ा शांत हो गई? या पीड़ा थी ही नहीं?’

मैं निश्चय नहीं कर सका। किन्तु उसकी स्वस्थ मुख मुद्रा देख मैं निश्चिंत हो गया।

दिन बीत गया। और भी अनेक दिन बीत गए। नदी का पानी भी समय की भांति बहता गया। वर्षा का नया जल अपने आलिंगन में लेती हुई नदी बहती रही। नदी में यौवन जाग उठा। खेतों में नये धान लहराने लगे। हम दोनों के विवाह का प्रथम वर्ष आनंद और आह्लाद में बितने लगा। देखते देखते दिवाली के दिन आ गए।

“आप एक काम कर दोगे?” मैंने उसके प्रश्न के उत्तर में प्रश्न भरी दृष्टि से उसे देखा।

“दिवाली आ रही है। घर के द्वार पर तोरण लटका दोगे?”

उसके शब्द और आँखों में उमंग था। मुझे अच्छा लगा। मैं उसके समीप गया।

“आप कहें और हम न करें?”

उसने पलकें गिरा दी।

“कहाँ है वह तोरण? लाओ, मैं अभी इसे लगा देता हूँ।”

उसने मुझे देखा। उसके नयनों में जो बिजली चमक रही थी, मेरे हृदय को बिंध गई। आँखों की बिजली उसके चरणों में आ गई। क्षण भर में ही वह भीतर से एक सुंदर तोरण लेकर लौट आई।

“अरे वाह, बड़ा कलात्मक और सुंदर तोरण है यह। कहाँ से लाई? कितने का है यह?”

“आप ही अनुमान लगाकर इसका मूल्य बता दो।”

“आप की पसंद पर अनुमान लगाने का मेरा सामर्थ्य कहाँ है, प्रिये?”

उसके अधरों पर स्मित आ गया तो मुख पर नई बिजली।

“यह तोरण मैंने बनाया है, अपने हाथों से।” मुख पर बिजली के साथ गर्व भी उभर आया।

“क्या बात है! आप तो बड़ी कलाकार हैं। कहाँ से सीखी यह कला?”

“मां ने सिखाया है।”

“वाह रे सासुजी, आपने यह काम बड़ा अच्छा किया।”

“सिखाया तो है आपकी सासूजी ने, इसे बनाया मैंने है अपनी कल्पना से।”

“तभी तो मैं आपकी प्रशंसा कर रहा हूँ।”

“ठीक है, ठीक है। अब इसे आप द्वार पर सजा दें। तब तक मैं एक और काम करती हूँ।”

“और क्या काम है? यहाँ ठहरो, मेरे पास।”

“हमारे विवाह पर कुछ कांच के बर्तन भेंट में आए थे। स्मरण है न आपको?”

“वही जिसमें कुछ प्याले थे, कुछ कटोरियाँ थी?”

“हाँ, वही। उसे निकालकर, धोकर साफ कर देती हूँ।”

“क्यों?”

“दिवाली के पश्चात नूतन वर्ष के दिन हमारे घर जो लोग आएंगे उन्हें हम कांच के पात्रों में ही मिठाई देंगे। पानी भी कांच के प्याले में ही देंगे। कितना अच्छा लगेगा न?”

“तुम्हारा भी जवाब नहीं।”

उसने कांच के बर्तन निकाले, आँगन में नल के नीचे उसे धोने लगी। मैं हथौड़ी और कील लेकर तोरण सजाने में व्यस्त हो गया।

“देखो, मैंने सब धो दिए। वहाँ धूप में सुख रहे हैं। देखो, कैसे चमक रहे हैं। मोती और हीरे लग रहे हैं।”

मैंने उसकी बात सुनी किन्तु अपने काम से ध्यान नहीं हटाया। वह समीप आई। “आपने सुना? बर्तन कितने चमक रहे हैं। देखो न? हैं कांच के किन्तु मोती लग रहे हैं। हीरे हैं हीरे।”

“बस यह काम पूर्ण होते ही मैं उसे देख लूँगा।”

“प्रथम मेरा काम देख लो। इन हीरों को देख लो। एक बार देख लो पश्चात अपना काम करते रहन।”

“हठ क्यों कर रही हो? बस कुछ ही मिनट की तो बात है।”

“तब तक तो उन पर सूरज की जो किरणें पड रही हैं वे चली जाएगी। तब ये चमक नहीं दिखेगी।”

“बस हो ही गया है।”

“नहीं, नहीं। आपको इसे अभी ही देखना है। देख लो न?”

“चार पाँच मिनट रुक जाओ न?”

“ठीक है। आपको अपनी ही पड़ी है। मेरे काम की कोई कीमत ही नहीं है। जाओ, मत देखना। मुझसे बात भी न करना।” वह जाने लगी।

जाते हुए उसके पदध्वनि ने स्पष्ट कर दिया कि वह अप्रसन्न है, क्रोधित है।

“रुको, मैं अभी देखता हूँ तुम्हारा काम।”

कांच के बर्तनों को देखने के लिए मैं मूडा। मेरा ध्यान भंग हो गया। हथौड़ी मेरे हाथ पर लगी। मेरे हाथ से हथौड़ी छूट गई। उसे संभालने के प्रयास में मैं अपना संतुलन खो बैठा। हथौड़ी कांच के बर्तनों पर जाकर गिरी। और उस पर मैं गिर पड़ा।

हथौड़ी ने कांच के कुछ पात्रों को तोड़ डाला। कांच के टुकड़े उड़कर आँगन में बिखर गए। कुछ टुकड़े मेरे हाथ और पैर में भी घुस गए। रक्त बहने लगा। ऊपर से गिरने का घाव और बहता रक्त। मेरी पीड़ा असह्य होने लगी। आँखें बंद कर क्षण भर मैं वहीं बैठा रहा।

वह मेरे निकट आई। मेरे कंधे पर हाथ रखा। अपना हाथ मेरी तरफ बढ़ाया और धीरे से मुझे उठाया। भीतर ले आई। मेरे घावों को साफ किया। उस पर तेल और हल्दी का लेप लगाया। मुझे पानी पिलाया। मुझे धीरे से लेटाकर मधुर वचनों से धैर्य बँधाने लगी।

मैंने करवट बदली तो मेरा हाथ कांच के टुकड़ों पर गया। आँखें खुल गई मेरी। मैं अभी भी आँगन में ही था। कांच के टुकड़े भी वहीं थे। वह दूर खड़ी टूट हुए कांच को देख रही थी। टूटे हुए कांच का दु;ख उसकी आँखों में स्पष्ट रूप से छलक रहा था।

“वहीं बैठे रहोगे या उठोगे भी? मुझे ही यह सब सफाई करनी पड़ेगी। चलो उठो अब।”

मैंने उठने का प्रयास किया। तीसरे प्रयास में उठ पाया। कांच के टुकड़ों से बचता हुआ, बहते रक्त के साथ धीरे धीरे नल के समीप गया। घावों को साफ करने लगा। धीरे धीरे बहता रक्त बंद हुआ। मैं वहीं बैठा रहा।

वह अभी भी टूटे हुए कांच का शोक मना रही थी।

मैं उठा और घाव पर हल्दी लगाने के लिए भीतर जाने लगा।

“अब कहाँ जा रहे हो? देखते नहीं, सब जगह कांच पड़े हैं।”

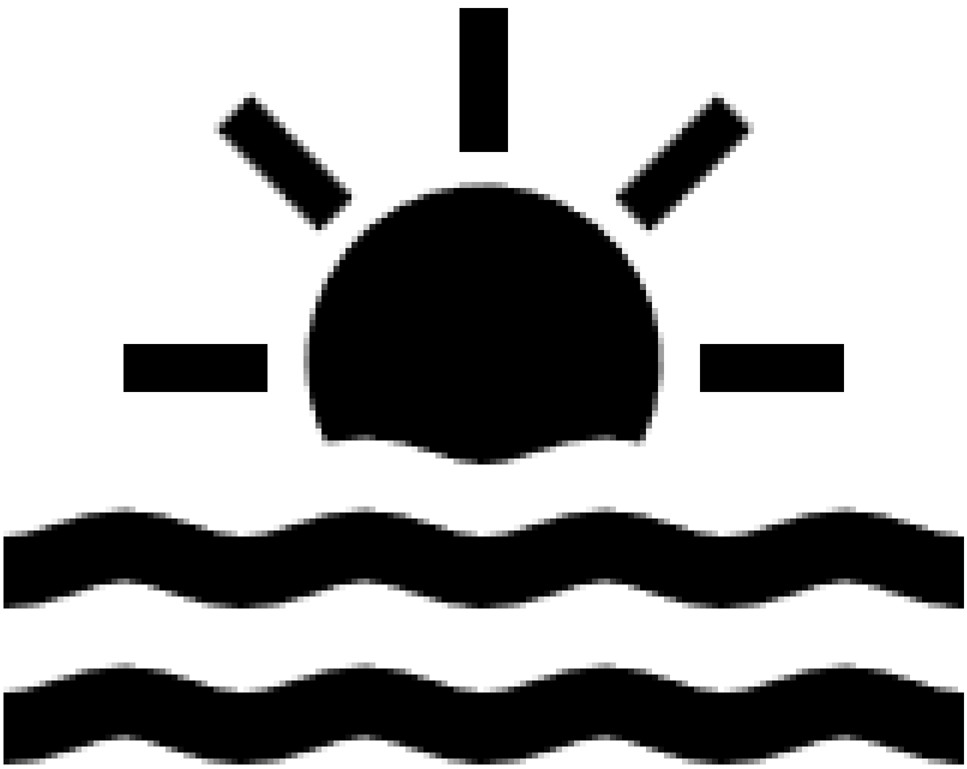
मैं वहीं बैठ गया। आँखें बंद कर ली। कुछ समय पश्चात टूटे कांच को समेटने की ध्वनि सुनाई दी। मैंने आँखें खोलकर उसे देखा।

वह बोले जा रही थी, “एक भी काम ढंग से नहीं होता है आपसे। एक काम दिया तो चार काम बढ़ा दिए। कोई काम ढंग से नहीं कर सकते हो? दोष मेरा ही है जो मैंने आपको तोरण लगाने का काम सौंप दिया। मेरे भैया ने कितने स्नेह से दिए थे ये सारे बर्तन। सब टूट गए। मेरे तो भाग ही फूटे हैं जो मैंने आप ..।”

वह समेट रही थी, कांच के टुकड़े भी, संबंध भी।

दूर पड़ी हथौड़ी, आधा लटक रहा तोरण और टूटने से शेष बचे कांच के बर्तन मुझे देख रहे थे। वे भी सोचते होंगे कि किसका क्या टूटा, क्या फूटा?

सम्पन्न



4] उपचार

महानगर के प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित अस्पताल के बोर्ड रूम में सभी निदेशक सहसा मौन हो गए। अब क्या बोलें? कौन बोले? उसकी प्रतीक्षा में पिछले साढ़े सात मिनट से सभी अपनी अपनी जिह्वा को बलात नियंत्रण में रखे हुए थे। बातों बातों में कुछ ऐसी कहा सुनी हो गई थी कि बोलनेवाला बोलकर और सुननेवाले सुनकर विचलित हो गए थे।

प्रश्न केवल एक प्रस्ताव का था किन्तु एक दूसरे पर आक्षेप - प्रति आक्षेप पर उतर आए थे वे सभी।

सभी निदेशक जाने माने एवं प्रतिष्ठित डॉक्टर्स थे, अपने अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध सर्जन भी थे। सभी ने साथ मिलकर इस अस्पताल को बनाया था, प्रतिष्ठा भी दिलवाई थी।

किन्तु अब कणकण रचा गया पहाड़ किसी भी क्षण टूटकर बिखर जाने के बिन्दु पर आ गया था।

उस मण्डल कक्ष में जो हुआ उसे यदि कक्ष से बाहर नगर में प्रसारित कर दिया जाए तो अस्पताल और सारे डॉक्टर्स का चरित्र अनावृत हो जाए। पश्चात कोई भी नागरिक यहाँ उपचार के लिए आना उचित नहीं समझेगा।

वैसे तो किसी भी निदेशक मण्डल कक्ष की जो बैठक होती है उसमें जो कुछ भी होता है उसे कभी सार्वजनिक नहीं किया जाता है। कितने भी मन मुटाव हो, केवल अंतिम निर्णय ही सार्वजनिक किया जाता है। इस अस्पताल की निदेशक मण्डल की बैठक में भी सदा ऐसा ही होता आया है। मैं भी ऐसी सभी बैठकों में उपस्थित रहता हूँ, समय जो हूँ, किन्तु कभी कोई बात किसी को नहीं बताता। किन्तु इस बार की बैठक में जो हुआ उसे मैं बताता हूँ क्योंकि वह जानना आप सब के लिए नितांत आवश्यक है।

मण्डल के सब से युवा निदेशक डॉ अविनाश ने प्रस्ताव रखते हुए कहा था-

- इस अस्पताल में एक पुस्तकालय हो,
- प्रत्येक कक्ष में; चाहे वह साधारण हो, आईसीयू हो या स्वतंत्र हो; थोड़े पुस्तक रखे जाएं, और
- दिन में एक या दो बार केन्द्रीय कक्ष से किसी पुस्तक पर वार्तालाप प्रसारित हो जिसे रोगी समेत अस्पताल में उपस्थित सभी सुन सकें।

डॉ बरखा ने कहा, “इससे क्या होगा?”

अविनाश ने कहा, “मैंने देखा है, अस्पताल में भर्ती रोगियों के परिजन सारा दिन व्यर्थ ही बैठे बैठे ऊब जाते हैं। उनके लिए एक पुस्तकालय का होना उचित नहीं है? वे अपना समय व्यतीत करने के लिए पुस्तकें पढ़ लें तो?”

डॉ चैतन्य ने कहा, “अन्य मार्ग से वे अपना समय व्यतीत कर ही लेते हैं।”

डॉ दिव्या ने पूछा, “कैसे?”

डॉ ऐश्वर्य ने कहा, “इस मोबाइल से।” उसने अपना मोबाइल सब को दिखाया।

“मोबाइल से पुस्तकें अधिक अच्छा उपाय है।” दिव्या ने कहा।

ऐश्वर्य ने कहा, “ठीक है किन्तु इसके लिए हमारे पास खाली स्थान कहाँ है? इस सारी योजना पर कितना खर्च होगा?”

“तीसरी मंजिल पर दाहिने कोने में जो दो कक्ष हैं वे महीनों से खाली पड़े हैं। उनका उपयोग कर सकते हैं। डेढ़ लाख में पुस्तकालय बन जाएगा।” अविनाश ने कहा।

अब तक सब कुछ शांत चित्त से सुन और देख रही डॉ फाल्गुनी बोल पड़ी। “डेढ़ लाख रुपये? वह भी पुस्तकों पर? ऐसा क्या है इसमें? इतनी राशि हम खर्च नहीं कर सकते।”

दिव्या बोली, “हमारे लिए यह कोई बड़ी राशि नहीं है। और हमारे पास कक्ष भी उपलब्ध हैं।”

“जिस कक्ष की आप बात कर रहे हो उस पर डेढ़ लाख खर्च करें तो अतिरिक्त बेड लग सकते हैं जिससे हमारी आय बढ़ सकती है।” ऐश्वर्य ने कहा।

“इतने दिनों से उस कक्षों को उपयोग में क्यों नहीं लिया गया? कितनी आय हमने गवां दी उसका हिसाब करो। उसके लिए जो उत्तरदायी हो उससे वह राशि वसूल करो। इतनी हानी के पश्चात और डेढ़ लाख रुपये खर्च करवाना चाहते हो, जिससे कोई आय नहीं होने वाली? मैं इसके पक्ष में नहीं हूँ।” फाल्गुनी ने अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया।

“किन्तु हम दूसरी बात तो मान सकते हैं न?” दिव्या ने कहा।

“कौन सी?” बरखा बोली।

“प्रत्येक कक्ष में थोड़े पुस्तक रखने की।”

“दिव्या, उस पर भी खर्च तो आएगा ही न?”

“कितना खर्च आएगा?” चैतन्य ने पूछा।

“सत्तर अस्सी हजार।”

“और तीसरी बात पर कितना खर्च होगा, कुछ विचार किया है अविनाश?”

“अविनाश की इस तीसरी बात के लिए एक केन्द्रीय कक्ष बनाना पड़ेगा, जहां से कोई व्यक्ति उसे प्रसारित कर सके। सभी कक्षों में सुनाई दे ऐसी पूरी सिस्टम लगानी पड़ेगी। किसी वक्ता को बोलने के लिए प्रतिदिन बुलाना पड़ेगा, वह भी पैसा लेगा। इस पर तो..।”

“बरखा, इस पर आठ से नौ लाख खर्च होगा।”

“कुल मिलाकर दस बारह लाख होगा, हैं न अविनाश?”

“आपने ठीक अनुमान लगाया है, ऐश्वर्य।”

“यदि कोई रोगी या परिजन उसे सुनना न चाहे तो?”

“बरखा, प्रत्येक बेड पर एक ईयर पीस लगा रहेगा। जिसे नहीं सुनना होगा वह नहीं सुनेगा।”

“और उसका खर्च कितना होगा, अविनाश?”
“इसी खर्चे में हो जाएगा, ऐश्वर्य।”
“यह सारा उपक्रम करने का उद्देश्य क्या है? हमें यह सब क्यों करना चाहिए यह तो अविनाश ने बताया ही नहीं।” सहसा फाल्गुनी ने बात मोड दी।
“बताता हूँ। एक, पुस्तकालय होने से रोगियों के परिजनों को समय व्यतीत करने में सहायता मिलेगी।
दूसरा, कक्ष में पड़े पुस्तकों को रोगी स्वयं जब चाहे पढ़ सकते हैं।
और तीसरा, जो स्वयं पढ़ना न चाहे या पढ़ना न जानता हो उसके लिए पुस्तक पर दिया गया वार्तालाप उपयोगी होगा।”
“ठीक है किन्तु इससे होगा क्या, अविनाश?”
“फाल्गुनी, इससे रोगियों के उपचार में सहायता मिलेगी, गति आएगी।”
“कैसे गति आएगी?”
“मैं एक घटना सुनाता हूँ। आप सब सुनिए। बरखा आप भी।”
क्षणभर अविनाश रुका। थोड़ा पानी पिया।
“यह घटना अपने ही अस्पताल में घटी है। सुनना चाहोगे?”
फाल्गुनी और ऐश्वर्य ने एक साथ कहा, “हमें ऐसी कोई घटना में रुचि नहीं है।”
“हमें एक बार सुन तो लेना चाहिए, क्यों बरखा और चैतन्य, आपका क्या विचार है?”
“दिव्या का कहना भी उचित है।”
सभी ने विवशता से सुनने की सज्जता प्रकट की।
डॉ अविनाश ने बात प्रारंभ की।
रात्रि के दस बजे एक महिला आपातकाल कक्ष में भर्ती होती है। उसके साथ उसके परिजन भी थे। अस्पताल में उस समय उपस्थित दल ने शीघ्र ही

उपचार प्रारंभ कर दिया और न्यूरो सर्जन डॉ अविनाश को सूचित कर दिया। तीन मिनट में डॉक्टर अविनाश वहाँ उपस्थित हो गए।

अविनाश ने पूछा, "क्या नाम है इनका? कितनी आयु है? क्या हुआ है? कब हुआ है? सब विस्तार से बताइए। एक भी बात छूटने न पाए।"

परिजनों ने पूरी बात बता दी।

"यह पेरालीसिस का आघात है। गार्गी जी की स्थिति को देखते हुए शीघ्र से शीघ्र इनके मस्तिष्क का छोटा सा ऑपरेशन करना होगा। क्या आप इसके लिए सम्मत हो?"

परिजनों ने क्षण में ही सम्मति प्रदान कर दी। डॉ अविनाश और उसके दल ने सफलता से ऑपरेशन पूर्ण किया। गार्गी जी को आईसीयू में भर्ती कर दिया। परिजन भी संतुष्ट थे।

तीन दिन आईसीयू में रहते हुए गार्गी जी की स्थिति अच्छी होने लगी और उन्हें साधारण वॉर्ड में रखा गया।

डॉ अविनाश ने कहा, "सामान्य रूप से यहाँ से दो या तीन दिनों में रोगी को छुट्टी दी जाती है।"

"तो आज छुट्टी मिल रही है?" परिजन उत्साह में थे।

"गार्गी जी को हमें कुछ और दिन रखना पड़ेगा।"

"कोई समस्या तो नहीं?"

"चिंता की कोई बात नहीं है।"

"तो?"

"बाकी सब तो सामान्य है किन्तु उनका रक्तचाप, सामान्य नहीं है। वह पचास के आस पास रह रहा है। और एक बात, पल्स भी चालीस तक गिर गया है। इस स्थिति में उन्हें घर ले जाना ठीक नहीं है। हम आवश्यक सभी प्रयास और उपचार कर रहे हैं। जैसे ही ये सब सामान्य हो जाएगा, छुट्टी दे दी जाएगी। चिंता की बात नहीं है।"

आश्वासन देकर डॉक्टर चले गए। तीन दिन तक सभी उपचार करने के पश्चात भी स्थिति में कोई सुधार नहीं आया।

“आप सब को एक काम करना होगा।”

“कैसा काम, डॉक्टर सा’ब?”

“आपको गार्गी जी को सोने नहीं देना है। उन्हें अविरल रूप से जागृत रखना है। उनसे बातें करें, उनको व्यस्त रखें। तभी उनका बीपी और पल्स सामान्य हो सकेगा। हमारा उपचार भी चल रहा है। आपको बस इतना सहयोग देना होगा।”

परिजनों ने गार्गी जी को व्यस्त रखने के सारे उपाय किए किन्तु अपेक्षित परिणाम नहीं मिल रहा था।

इस बीच एक और रोगी को गार्गी जी के पार्श्व वाले बेड पर लाया गया। उसका भी ऑपरेशन हुआ था।

वह रोगी और उसका बेटा दोनों पूरा दिन कुछ न कुछ पढ़ते रहते थे। गार्गी उन्हें देखती रहती।

दूसरे दिन जब बेटा पढ़ रहा था तो उसका ध्यान गया कि गार्गी जी अनिमेष उसे पढ़ते हुए देख रही थी। क्षणभर उसे इस प्रकार गार्गी जी का देखना विचित्र लगा। उसने गार्गी जी की उपेक्षा कर दी और पुन: पढ़ने लगा। किन्तु उसका मन पढ़ने में नहीं लग रहा था। बार बार वह गार्गी जी को देख लेता था। और प्रत्येक बार गार्गी जी उसे ही देख रही थी।

उसने पुस्तक बंद कर दी, उठा और पुस्तक वहीं छोड़कर कहीं चला गया। जब वह लौटा तो देखा कि अभी भी गार्गी जी की दृष्टि पुस्तक पर ही थी। वह समझ गया।

उसने पुस्तक उठाई और उसे गार्गी जी को धर दी। प्रसन्न होते हुए गार्गी जी ने उसे ग्रहण कर ली। पुस्तक के पृष्ठों को पलटने लगी। किसी पृष्ठ पर रुक गई। कदाचित वह उस पृष्ठ को पढ़ रही थी।

पढ़ते पढ़ते गार्गी जी थक गई तो उसे नींद आ गई और उनके हाथ से पुस्तक गिर गया। सहसा वह जाग गई।

पुस्तक वाले रोगी को उसी दिन छुट्टी मिल गई। वे अपनी पुस्तक गार्गी जी के पास छोड़ गए। जब जब मन किया, गार्गी जी उसे पढ़ती रहती। दूसरे दिन भी वही क्रम चला। नर्स दवाइयाँ देती रही, बीपी और पल्स की नोंध करती रही, डॉक्टर आते जाते रहे।

जब डॉक्टर अविनाश आए तो गार्गी जी सो रही थी। डॉक्टर ने स्क्रीन पर देखा।

बीपी 70 और पल्स 59 दिखा रहा था।

उसने सारे रिपोर्ट देखे। उसके मुख पर एक आभा उभर आई।

“नर्स, आपने कोई दवाइयाँ बदली हैं या कोई डोज ऊपर नीचे किया है?”

“नहीं जी।”

“आपने यहाँ जो लिखा है वो सब सत्य ही हैं न?”

“जी।”

डॉक्टर ने पुन: स्क्रीन पर देखा। वे संतुष्ट हो गए।

“आपने कोई विशेष बात देखि थी गार्गी जी में पिछले चोबिस घंटों में?” डॉक्टर ने नर्स से पूछा।

“बस पुस्तक पढ़ती रहती थी।”

डॉक्टर ने स्मित दिया।

“इतने दिनों से जो नहीं हो रहा था वह पुस्तक पढ़ने से हुआ है क्या?” नर्स ने जिज्ञासा प्रकट की।

“हो सकता है।” नर्स डॉक्टर को देखती रही।

एक और दिन व्यतीत हो गया। गार्गी जी का बीपी और पल्स सामान्य हो गया। उन्हें छुट्टी मिल गई।

पंद्रह दिनों पश्चात जब गार्गी जी को पुन: चिकित्सा जांच के लिए लाया गया तो डॉक्टर को अपेक्षा से अधिक सुधार दिखा।

“क्या आप अभी भी पुस्तक पढ़ती हैं?”

“हाँ, दिन में दो तीन घंटा पढ़ लेती हूँ।”

“गार्गी जी, पुस्तकें पढ़ते रहना।”

डॉक्टर अविनाश को अब पूर्ण विश्वास हो गया कि पुस्तक पठन भी उपचार का ही एक प्रकार है जिससे सहायता मिलती है। उसी विचार को लेकर वह अपना प्रस्ताव निदेशक मण्डल में रख चुके थे।

“इस घटना से सिद्‌ध होता है कि रोगियों के शीघ्र स्वास्थ्य लाभ हेतु पुस्तकों के विषय में मेरे प्रस्ताव पर कार्य करना चाहिए।”

चैतन्य ने कहा, “केवल एक घटना के आधार पर हम इस बात को सिद्‌ध नहीं कर सकते।”

“क्या किसी अन्य रोगी पर आपने ऐसा प्रयोग किया है?”

“डॉक्टर बरखा, हमने कुल सत्ताइश रोगियों पर यह प्रयोग किया है। अधिकांश रोगियों पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ा है।”

“डॉक्टर अविनाश, मान लेते हैं कि यह उपचार में सहायक है। किन्तु आपके प्रस्ताव को स्वीकारने के अन्य परिणाम आपने सोचे हैं?”

“कैसे परिणाम, डॉक्टर ऐश्वर्य?”

“इस प्रकार रोगी शीघ्र स्वस्थ होने लगे तो हमारी तो दुकान ही बंद हो जाएगी।”

“वह कैसे, डॉक्टर फाल्गुनी?”

“आपके प्रस्ताव पर खर्च होगा। दूसरा जिस स्थान पर पुस्तकालय आदि बनेगा उसको वॉर्ड बनाते तो जो आय होती वह नहीं होगी। ऊपर से रोगी को शीघ्र छुट्‌टी देने पर अस्पताल खाली रहेगा उसकी हानी होगी।

ऐसा करना तो सभी प्रकार के घाटे का काम होगा। मैं इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हूँ।”

“हम भी सहमत नहीं हैं।” अविनाश और दिव्या को छोड़कर सभी ने डॉक्टर फाल्गुनी की बात में सुर मिलाया।

“हम इतना सारा धन कमा लेते हैं तो भी हमारा पेट नहीं भरता? हमें और कितना धन चाहिए?”

“अधिक से अधिक, डॉक्टर दिव्या।” बरखा ने अन्य सभी के मन की बात कही।

“धन की लालसा में हमने अपनी संवेदना भी खो दी है क्या?” अविनाश ने आक्रोश व्यक्त कर दिया।

“आपकी संवेदना उस औरत के लिए है वही पर्याप्त है, अविनाश।” फाल्गुनी ने कहा।

“हम जानते हैं उस औरत के लिए आप क्या क्या करते हो।” चैतन्य ने भी सुर मिला लिया।

“आप मेरा चरित्र हनन कर रहे हो।”

“जैसा काम करोगे चरित्र वैसा ही दिखेगा।” ऐश्वर्य भी कहाँ चुप रहता?

“अपने आस पास इतनी सुंदरियाँ होते हुए भी न जाने उस बूढ़ी सी औरत में अविनाश ने क्या देख लिया ये बात मुझे समज नहीं आ रही है।” ऐश्वर्य ने कहते हुए अनायास ही तीनों स्त्री निदेशक बरखा, दिव्या और फाल्गुनी की तरफ देख लिया।

सुनकर सभी स्तब्ध हो गए।

बोर्ड रूम में सभी निदेशक सहसा मौन हो गए। क्या बोलें? कौन बोले? उसकी प्रतीक्षा में पिछले साढ़े सात मिनट से सभी अपनी अपनी जिह्वा को बलात नियंत्रण में रखे हुए थे।

किन्तु अविनाश विचलित नहीं हुआ। उसके मन में संघर्ष चल रहा था-

‘क्या यह उचित समय है उस रहस्य को प्रकट करने का? या आज भी मौन रहकर उसके अपराध को छीपा दूँ?’

पूरे आठ मिनिट के पश्चात उसने निर्णय कर लिया।

“आज समय आ गया है उस औरत के विषय में सब को सत्य बताने का। हमारे ही एक डॉक्टर के हाथों अनुचित दवाइयाँ देने पर एक युवक की मृत्यु हो गई थी। स्मरण तो होगा उस घटना का। उस समय हम सब की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए इसे सार्वजनिक नहीं होने दिया था। उस युवक की माँ ने अपना एक मात्र पुत्र और सहारा खो दिया था। मैं जिस स्त्री से मिलता हूँ वह उसी युवक की माँ है। हमारे अपराध के प्रायश्चित के लिए ही मैं उनसे मिलता रहता हूँ। आयु में भी वह मेरी माँ समान है। उसके लिए आपके मन में ऐसा निकृष्ट विचार आना हमारे संस्कारों को ही प्रकट करता है। मुझे आपके इन संस्कारों की न तो चिंता है न आपत्ति है।” अविनाश रुका। सभी अभी भी मौन रहकर उसे सुन रहे थे।

“जानते हो वह डॉक्टर कौन था?”

सभी सहसा अविनाश को प्रश्न दृष्टि से देखने लगे, एक को छोड़कर।

“वह और कोई नहीं, हमारे निदेशक डॉक्टर ऐश्वर्य थे। ये रहा डॉक्टर ऐश्वर्य की अपराध स्वीकृति का पत्र। देखिए, उस पर उनके हस्ताक्षर भी है। देख रहे हो?”

सब ध्यान से देखने लगे। सब के मन में एक धुँधलाहट धधकने लगी।

“अपने आप से कब तक भागते रहोगे डॉक्टर ऐश्वर्य?”

ऐश्वर्य का मुख लज्जा से झुक गया। कुछ क्षण सभी के मौन से व्यतीत हो गए।

“अविनाश, उस बात को भूल जाते हैं।”

“डॉक्टर बरखा, मैं तो भूल ही गया था किन्तु जब उस माँ समान स्त्री पर लांछन लगाया गया तो मैं कैसे चुप रहता?”“

“उस बात के लिए हम सब क्षमा प्रार्थी हैं, अविनाश।”

अविनाश ने गहरी सांस ली। सब पर एक तीव्र दृष्टि डाली। पानी के कुछ घूंट पिए।

“हम अविनाश के प्रस्ताव पर चर्चा कर रहे थे।” दिव्या ने कहा।

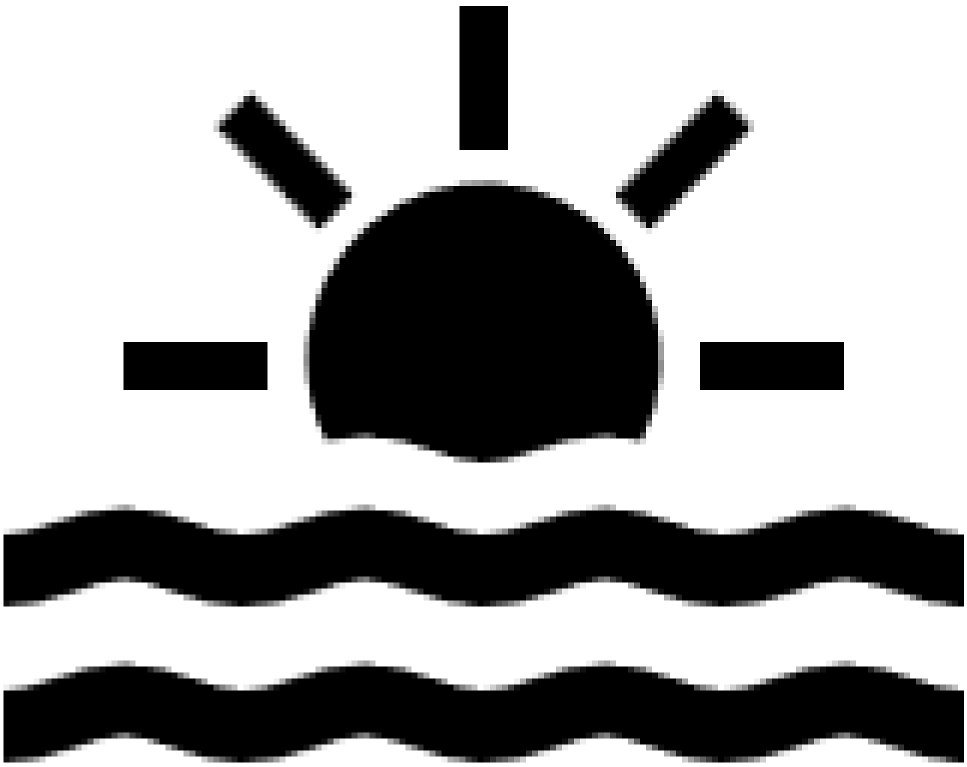
“उसका अस्वीकार करते हैं।” मण्डल ने बहुमत उसे निर्णय कर लिया।

“मेरा भी एक निर्णय जान लो। मैं इसी समय इस अस्पताल के निदेशक मण्डल से और अस्पताल के सभी पदों से त्यागपत्र दे रहा हूँ। मैं इस अस्पताल को छोड़ रहा हूँ।”

अपना त्यागपत्र देकर अविनाश चला गया।

उसी नगर के किसी अज्ञात कोने में उसने अपना छोटा सा अस्पताल और उसके भीतर पुस्तकालय खोल दिया।

सम्पन्न



5] धूप स्पर्श

वर्षा अभी अभी रुकी थी। एक लंबे अंतराल के पश्चात बादलों ने उस गगन को त्यागकर आगे की यात्रा आरंभ की थी। कहीं दूर क्षितिज से सूरज निकलने के संकेत मिल रहे थे।

उस क्षितिज बिन्दु को देखते ही उसके मुख पर सहज ही स्मित आ गया। क्षण भर क्षितिज को देखने के पश्चात वह वर्षा जल से भीगी पगडंडी को देखती रही। सहसा वह उस पर चल पड़ी, चलने लगी।

मार्ग में उसने वर्षा से भीगे वृक्षों को देखा। वृक्षों के पर्णों पर अभी भी अनेक वर्षा बिन्दु थे जो धरती तक नहीं पहुँच सके थे। पर्णों ने उन्हें रोके रखा था। वह उन पर्णों के समीप गई। हाथ बढ़ाकर, पर्णों को हिलाकर उन वर्षा बिंदुओं को धरती के साथ मिलन कराने की उसके मन में इच्छा जाग उठी। उसने हाथ बढ़ाया, पर्णों को स्पर्श किया। उस स्पर्श की शीतलता समस्त शरीर में प्रवाहित हो गई। वह पर्णों को देखती रही। भीगे पर्णों का अनूठा हरा रंग उसे आकर्षित करने लगा। वह उस आकर्षण में बह गई, पर्णों से वर्षा बिंदुओं को धरती से मिलाना भूल गई।

उस आकर्षण में वह इतनी व्यस्त थी कि दूर से दो आँखें उसे ही देख रही थी और धीरे धीरे समीप आ रही थी उस बात का उसे ध्यान ही नहीं रहा। वह आँखें उसके प्रत्यक्ष आकर रुक गई। उसका पदध्वनी सुनकर वह चौंक गई और उसकी तरफ मुड़ी।

उन आँखों को देखते ही वह वहाँ से भाग जाने का प्रयास करने लगी किन्तु उस आंखोंवाले पुरुष ने उसका मार्ग रोक लिया। चाहकर भी वह वहाँ से भाग न सकी।

“जानता हूँ, आज भी तुम भाग जाना चाहती हो।” पुरुष के शब्दों से वह अधिक विचलित हो गई। विवश होकर उसने भागने का विचार त्याग दिया। उसे कुछ न सुझा तो पर्णों की तरफ मूड गई, पर्णों को देखती रही। कुछ क्षण दोनों में से कोई कुछ नहीँ बोला।

पश्चात भीगे पर्णों पर स्थित जल बिंदुओं से बोली, “मैं जानती हूँ कि तुम अपनी प्रिया इस धरती को मिलने के लिए ही व्योम से आए हो किन्तु ये जो पर्ण हैं न अपनी प्रिया से तुम्हारे मिलन में बाधा बने हुए हैं।

तुम चिंता ना करना, मैं हूँ ना। मैं कराऊँगी तुम्हारी प्रिया से तुम्हारा मिलन। मिलन न होने का अर्थ मैं जानती हूँ। उसकी पीड़ा, उसकी व्यथा और उसके भार को मैंने सहा है, आज भी सह रही हूँ। किन्तु तुम्हें इन सब से मैं बचा लूँगी। तुम्हें धरती पर गिरा दूँगी। तुम प्रसन्न होकर अपनी प्रिया से मिलन को भोग लेना। मेरे भाग्य में मिलन नहीं है तो क्या हुआ, तुम्हारा भाग्य तो मैं निखार सकती हूँ।”

पुरुष ने स्त्री के उन शब्दों को सुना। उन शब्दों के अर्थ को, उन शब्दों के लक्ष्य को वह भली भांति जानता था। उन शब्दों का उत्तर देकर वह उन क्षणों को दूषित करना नहीं चाहता था अत: वह मौन ही रहा।

स्त्री को अपने शब्दों की प्रतिक्रिया अपेक्षित थी किन्तु पुरुष के मौन से वह व्याकुल हो गई। पर्णों पर रहे जल बिंदुओं से, पुरुष को उकसाने के लिए, कहने लगी।

“तुम कदाचित नहीं जानते किन्तु मैं जानती हूँ कि यहाँ कोई तो है जो नहीं चाहता कि प्रेमियों का मिलन हो।” कंटकों ने भी इस बात को सुना, उन्हें यह बात चुभी किन्तु वे भी मौन ही रहे। पुरुष तो मौन ही था।

उस मौन से व्याकुल होकर उसने पर्णों को पकड़कर झकझोरने के लिए हाथ बढ़ाए तभी पुरुष ने स्त्री के हाथों को पकड़ लिया। वह थोड़ा पीछे हट गई। उनके हाथों के आघात से कुछ वर्षा बिन्दु धरती पर गिर पड़े। दोनों ने उन बिंदुओं को देखा। पुरुष उसे स्थिर दृष्टि से देखता रहा, स्त्री प्रसन्न होकर नाचने लगी।

“मिला दिया। मैंने इन वर्षा बिंदुओं का अपनी प्रिया से मिलन करा दिया।” वह नाचने लगी, ताली बजाने लगी। पुरुष उसे नाचती हुई देखता रहा, अपलक। जब स्त्री का उन्माद शांत हो गया तो वह क्षण भर रुकी। पुरुष को एक तीक्ष्ण दृष्टि से देखा और वहाँ से भाग जाने के लिए दौड़ी।

“कब तक भागती रहोगी? कहाँ तक भागती रहोगी?” पुरुष के शब्दों को सुनकर बढ़े हुए उसके चरण रुक गए। उठे हुए एक चरण के साथ वह खड़ी रह गई। ‘रुक जाऊं क्या? या आज भी भाग ही जाऊं?’ मन की दुविधा में वह वहीं स्थिर हो गई, उसी एक पग पर।

“भाग जाना चाहो तो मैं आज भी नहीं रोकूँगा।” पुरुष के शब्दों को सुनते ही उसने उठाया हुआ चरण भी धरती पर रख दिया। क्षण भर के पश्चात वह पुरुष की तरफ मुड़ी।

“रोकना तो तुम कहाँ जानते हो?” स्त्री के शब्दों में कटुता थी जिसे पुरुष मौन रहकर पी गया।

“क्या आज भी नहीं रोकोगे मुझे?” वह पुरुष के अत्यंत समीप आकर बोली।

“जाने का निश्चय कर चुकने वालों को कौन रोक सकता है?”

“तुम कहते तो मैं रुक जाती, जैसे आज रुक गई।”

“आज भी मैंने कहाँ रोका है तुम्हें? तुम तो स्वयं रुक गई हो। तब भी रुक सकती थी, आज की भांति।”

“वह तो..।” वह शब्दों को खोजने लगी, विफल रही।

“जाने दो उन बातों को। अब इसका कोई अर्थ नहीं है।”

“अर्थ? अर्थ तो तब भी था और आज भी है।”

“कैसा अर्थ?”

“तब तुम मुझे रोक लेते तो?”

“रोका था, तुम ही रूठकर भाग गई थी।”

“तुम पीछे आकर मना लेते तो?”

“तो मैं मैं नहीं रहता, तुम तुम नहीं रहती।”

“और हम पति पत्नी होते।”

“वही तो मैं नहीं चाहता था।”

“क्यों? क्यों नहीं चाहते थे तुम ऐसा?” वह उत्तेजित हो गई। उत्तेजना में उसने उसका हाथ पकड़ लिया। उसकी ऐसी चेष्टा से पुरुष स्तब्ध हो गया। दो चरण पीछे हट गया, हाथ स्वत: छूट गया।

पुरुष की प्रतिक्रिया पर वह क्रोधित हो गई। क्रोधाग्नि से उसे देखती रही। पश्चात सहसा पुन: वहाँ से भाग जाने के लिए मूड गई।

“रुको, आज चली जाओगी तो..।”

“तो क्या हो जाएगा?”

“शांत हो जाओ। कुछ क्षणों को यूं ही व्यतीत हो जाने दो। धैर्य रखकर कुछ समय के लिए यहाँ बैठो।”

“रुक जाने से, धैर्य रखने से, बैठ जाने से अब क्या लाभ?”

“प्रत्येक बात लाभ और हानि से ही नहीं तोली जाती। बैठो यहाँ पर।” पुरुष ने एक बड़े पत्थर की तरफ संकेत किया। अनिश्चितता में वह बैठ गई। पुरुष समीप ही दूसरे पत्थर पर बैठ गया। स्त्री का क्रोध मंद होने की प्रतीक्षा करने लगा।

स्त्री दूर कहीं देख रही थी जहां बादल बिखर रहे थे। समय के साथ बादल बिखर गए, उसका क्रोध भी शांत हो गया।

“चलो, आज दो बातें अच्छी हुई।” पुरुष ने मौन तोड़ते हुए कहा। पुरुष की तरफ मुड़कर आँखों से पूछने लगी, ‘कौन सी दो बातें?’

“एक, आज तुम भाग नहीं गई। और दूसरी, धैर्य रखते हुए तुम आज यहाँ बैठ गई।”

धैर्य!

स्त्री को स्मरण हो आया उस दिन का।

‘उस दिन भी तुमने कहा था धैर्य रखने को, रुककर बात सुनने को। किन्तु मैं ही चली गई थी अधीर होकर।’

उस दिन संध्या को दोनों मिले थे। आते ही स्त्री ने कहा था, “एक बात पूछूँ?”

पुरुष ने कहा था, “हाँ। पूछ लो आज, जो भी पूछना हो। कल से..।”

“कल से क्या?” वह अपेक्षा से भरी थी।

पुरुष ने एक गहन सांस लेकर कहा, “कल से हम कभी नहीं मिलेंगे।”

“कभी नहीं? क्यों? क्या कह रहे हो तुम? ठीक तो हो न?” अपेक्षा का स्थान उत्तेजना ने ले लिया।

“हाँ।” वह क्षण के लिए रुका। “मैं पूर्ण रूप से स्वस्थ हूँ।”

“तो यह निर्णय कैसे?”

वह मौन रहा।

“कहीं तुम परिहास तो नहीं कर रहे?”

वह मौन ही रहा।

“मुझे सताने के लिए ही तुम ऐसा कह रहे हो न? ऐसे कोई सताता थोड़ी है अपनी प्रिया को?”

वह अभी भी मौन था। संध्या में आकाश के बदलते रंगों को देखता रहा।

“अब कुछ बोलो भी। बहुत हो गया परिहास। मेरे सामने देखो और तुम्हारा वही मोहक स्मित देकर कह दो कि यह सब केवल एक परिहास ही था। चलो..।”

उसने पुरुष पर दृष्टि डाली तो देखा कि उसके मुख के भावों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था न ही उसने स्मित दिया था। वह स्थिर सा मौन ही रहा।

उसके ऐसे व्यवहार से वह विचलित हो गई।

“तुम बोलते क्यों नहीं हो? कुछ तो बोलो।”

“क्या बोलूँ?”

“कह दो कि तुम जो कह रहे थे वह मिथ्या है।”

“मुझे जो बोलना था, बोल चुका। वह मिथ्या नहीं है।”

पुरुष के शब्दों एवं मुख के भावों को उसने परखते हुए कहा, “इसका अर्थ है तुम इस बात पर पूरे गंभीर हो। और तुम परिहास भी नहीं कर रहे हो?”

“मैं पूर्ण गंभीर हूँ, कोई परिहास नहीं कर रहा हूँ।”

वह उसे देखती रही, कुछ समय तक। पश्चात बोली, “तुम पागल हो गए हो।” कहती हुई वह चलने लगी।

“क्या तुम इन बातों के कारणों को जानना नहीं चाहोगी?” पुरुष ने उसे रुकने के लिए कहा, किन्तु वह नहीं रुकी।

“नहीं। मैं कुछ भी नहीं जानना चाहती। तुम निर्णय कर चुके हो, अब कारणों का कोई महत्व नहीं है।”

“क्षण भर तो रुक जाओ..।” वह नहीं रुकी। चली गई।

अपने उस व्यवहार का स्मरण करती हुई वह पछताती रही।

“इतने वर्षों में जब भी तुम मुझे देखती थी, भाग जाती थी। क्यों?” पुरुष के इन शब्दों से वह वर्तमान में आ गई। उसे कोई उत्तर नहीं सुझा, वह मौन ही रही। पुरुष को अन्यमनस्क सी देखती रही।

“अब तक तुम चौंतीस बार भाग चुकी हो।” पुरुष ने स्मित किया।

“नहीं, पैंतीस बार।”

“पैंतीसवीं बार जब तुम भागी थी तब तुम अकेली नहीं थी। तुम्हारी गोद में तुम्हारी नन्हीं सी बिटिया भी थी। तब वह एक वर्ष की होगी।”

“अब वह तीस वर्ष की हो चुकी है। एक बेटे की माँ बन चुकी है।”

“जानता हूँ।”

“तो?”

“तो अब तुम्हारी आयु इतनी नहीं है कि भागती हुई तुम अच्छी लगो।”

“क्या मैं वृद्ध हो गई हूँ?”

“नहीं। वृद्ध हो गई होती तो ..।”

“तो क्या होता?”

“तो तुम इस प्रकार मुझसे रूठती नहीं।”

“मैं तो तब भी रूठती तुमसे।”

“तब भी तुम्हें मेरा स्मरण रहता?”

“मैं मृत्यु तक तुम्हें भूल नहीं सकती, चाहे सारे संसार को भूल जाऊं।”

“यह तो मेरा सौभाग्य होगा।”

“कैसे?”

“वह मैं अभी नहीं बताऊँगा।”

“तो अभी क्या बता सकते हो?” उसने पुरुष की आँखों में देखते हुए कहा।

वह विचारता रहा।

“कुछ नहीं तो वह बता दो कि तुम क्यों नहीं चाहते थे कि हम पति पत्नी होते?”

प्रश्न सुनकर वह किसी स्मरणों में खो गया। क्षण में ही उसे वह सारी बातों का स्मरण हो आया। उसे मन में ही रखते हुए उसने कहा।

“मैंने देखा है प्रेमियों को पति पत्नी होते हुए। पत्नी बनते ही प्रेमिका को कहीं अदृश्य हो जाते हुए। प्रेम की धारा जो कभी बहती थी अनाराधार उसे धीरे धीरे क्षीण होते हुए देखा है। बात बात पर दोनों को लड़ते हुए देखा है। एक दूसरे पर अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के प्रयासों को देखा है। और तीन चार वर्षों के पश्चात उन्हें विवाह विच्छेद करते हुए भी देखा है।

विवाह के पूर्व की प्रेम की अवधि से भी अल्प अवधि में विवाह विच्छेद हो जाना, दोनों का पृथक हो जाना देखा है। प्रेम के स्थान पर परस्पर तिरस्कार को देखा है जो प्रेम से भी अधिक तीव्र होता था। जन्मों का साथ निभाने के वचनों को इसी जन्म के पूर्ण होने से पूर्व ही टूटते हुए देखा है।

ऐसे में प्रेम विवाह पर मैं कैसे विश्वास कर सकता था?"

वह रुक गया। उसके मुख पर थकान के भाव उभर आए, जैसे बीते हुए वर्षों का भार अभी भी वह उठा रहा हो। वह गहरी साँसे लेने लगा।

स्त्री उसके शब्दों को सुनती रही। उसके मुख के भावों को देखती रही जिसमें अनंत वेदना थी। वह उन भावों को स्वयं भी अनुभव करती रही।

किसी वृक्ष से वर्षा का जल टपक रहा था। पुरुष उस वृक्ष के समीप गया। टपकते जल से हथेली भर ली और उस जल से मुख भिगो दिया। क्षण में ही वेदना के सारे भाव मुख से अदृश्य हो गए। वह स्त्री के समीप लौटा।

"उस दिन तुम क्षण भर रुक जाती तो...।" वह रुक गया।

"तो? क्यों रुकती मैं? जब तुमने अपने पक्ष से ..।"

"यदि रुक जाती तो इस प्रकार पैंतीस बार मुझे देखते ही भाग न जाती। प्रत्येक बार मुझसे हँसकर मिलती। प्रत्येक बार पुनर्मिलन की अभिलाषा लेकर विदा होती।"

"ऐसा कभी नहीं होता।"

"ऐसा ही होता।"

"जिस व्यक्ति ने प्रेम की धारा को सूखा देने का एकपक्षीय निर्णय कर लिया हो उसी से पुनर्मिलन की अभिलाषा मैंने उसी दिन, उसी क्षण त्याग दी थी।"

"तुम ठीक कह रही हो, वह निर्णय मेरा ही था। किन्तु..।"

"किन्तु शब्द का प्रयोग तुम व्यर्थ ही कर रहे हो।"

“इस किन्तु शब्द का अर्थ यदि आज भी नहीं समजोगी तो तुम आज भी वही तिरस्कार लेकर यहाँ से चली जाओगी। पुनर्मिलन की अभिलाषा भी कभी नहीं जागेगी। और यदि कहीं मिल भी गए तो तुम भागती ही रहोगी, सदा की भांति। मैंने अभी अभी कहा था न कि भागती हुई तुम अब अच्छी नहीं लगती।”

“तब भी मैं भाग ही जाऊँगी।”

“जैसा तुम चाहो। किन्तु आज जब तुम रुक ही गई हो तो उस ‘किन्तु’ का अर्थ भी जान लो।”

“बता दो जो कुछ बताना हो, जो कोई बहाना बनाना हो।”

“बहाना नहीं, सत्य ही कहूँगा।”

“सत्य? चलो उस सत्य को ही कह दो।”

“इतने वर्षों से उस बात को मैं कहना चाहता था किन्तु तुम कहाँ रुकती थी? आज भी मैं वही बात कहूँगा जो उस दिन मैं कहना चाहता था। एक भी शब्द बदले बिना, पूरी निष्ठा से सत्य ही कहूँगा।” वह रुका। स्त्री ने कोई भाव नहीं बदला।

“कुछ पाने का हमारा स्वप्न होता है, इच्छा होती है। उसे पाकर हमें सुख मिलता है। किन्तु ये स्वप्न, ये इच्छाएं और ये सुख बड़े विचित्र होते हैं।”

“विचित्र? सुख, सपने, इच्छाएं विचित्र कैसे?”

“इनके साथ विडंबना जुड़ी होती है। तुम जानती हो उस विडंबना को?”

स्त्री के मुख पर अज्ञानता के भाव प्रकट हो आए।

“सुख, सपने और इच्छाओं का आयुष्य अति अल्प होता है। जैसे ही हमारा स्वप्न पूरा हो जाता है, हमारी इच्छा पूर्ण हो जाती है तो हमें सुख मिलता है। और सुख मिलते ही वह स्वप्न, वह इच्छा मर जाते हैं। वे तब तक ही जीवित रहते हैं जब तक वे अधूरे हैं। तब तक ही उनका मूल्य होता है। उसे पाते ही उसका मूल्य नष्ट हो जाता है।

किन्तु यदि वे हाथ से छूट जाए, अधूरे ही रहे तो उनका मूल्य बना रहता है। हमारे मन से, ह्रदय से वे कभी नहीं निकलते। हाँ, उसका दु:ख अवश्य होता है। किन्तु दु:ख का स्वभाव बड़ा अच्छा होता है। दु:ख कभी मरता ही नहीं। वह दीर्घायु होता है। उसके साथ वह व्यक्ति भी हमारे मन में, हमारे ह्रदय में सदा जीवित रहता है।

यदि हम मिल जाते तो वही होता जो सभी प्रेमियों के साथ होता आया है। प्रेम की परम अवस्था के पश्चात हम मन में प्रेम से भी बढ़कर तिरस्कार लेकर पृथक हो जाते। वह तिरस्कार जीवन भर रहता। ऐसे मिलन से तो विरह अच्छा।"

वह रुका। वह शांत हो गया, जैसे उसने वर्षों के भार को उतार दिया हो। स्त्री उसके शब्दों को एकाग्र होकर सुनती रही। क्षण के लिए वह उसमें बह भी गई।

"हमने एक दूसरे को खोकर भी पाया है। और उन्होंने पाकर भी एक दूसरे को खो दिया है।" पुरुष ने अपनी बात को पूर्ण कर दी।

"खो ही दिया है हमने भी एकदूसरे को। कुछ नहीं पाया है हमने।" स्त्री ने उन भावनाओं को त्याग दिया जो पुरुष के शब्दों से उसके मन में जागी थी।

"यदि पाकर हम एकदूसरे को खो देते तो?" पुरुष ने स्त्री पर प्रश्न छोड़ दिया। उसके पास उसका कोई उत्तर नहीं था।

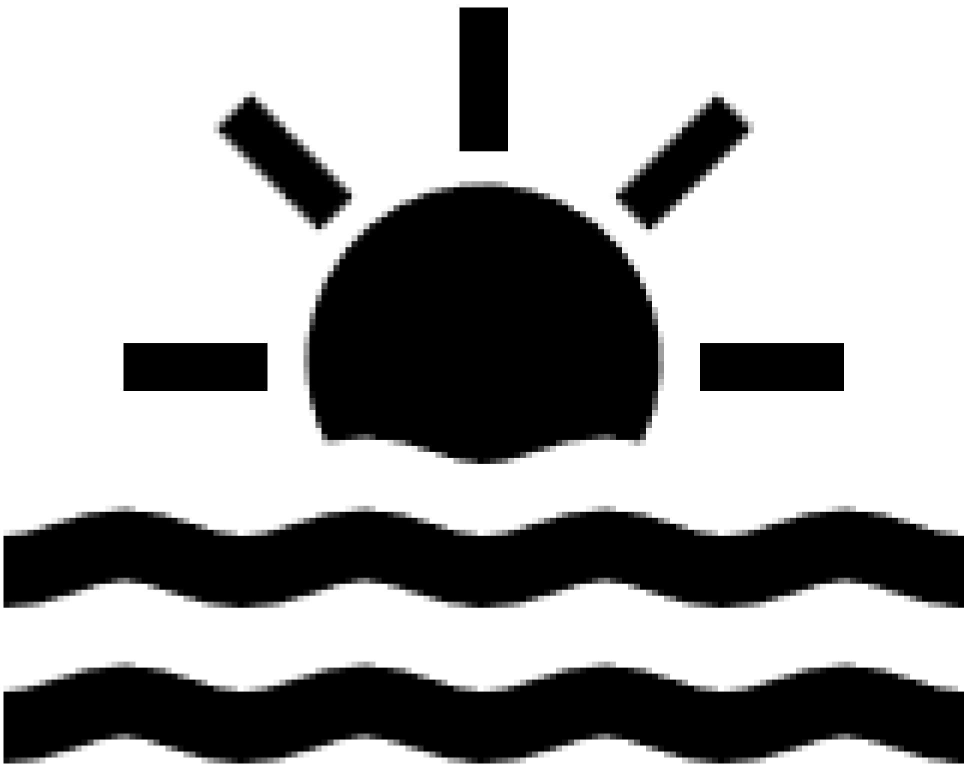
"यदि ऐसा होता तो हमारे ह्रदय में कभी भी एकदूसरे का स्थान नहीं होता। किन्तु आज भी मेरे ह्रदय में तुम्हारा स्थान वैसा ही है जो वर्षों पूर्व था। तुमसे मिलने की, स्नेह से भरी बातें करने की, दूर से तुम्हें देखते ही प्रेम संज्ञाओं को प्रकट करने की अभिलाषा आज भी वैसी ही है जैसी प्रथम मिलन में थी। क्या तुम्हारे मन में ऐसी अभिलाषा नहीं है?"

वह रुक गया। स्त्री के मनोभावों को निहारने लगा। वह स्थिर नयनों से उसे ही देख रही थी। कुछ क्षण वह उसी स्थिरता में रही।

सहसा उसके नयन बादल से वर्षा होने लगी। अधरों से एक भी शब्द नहीं जन्म ले सका।

वर्षा के बिंदुओं को अपने ऊपर रोके रखे पर्णों को वह देखने लगी। वर्षा के पश्चात निकली प्रथम कोमल धूप में पर्णों का हरा रंग कुछ भिन्न ही हो गया था। वर्षा बिन्दु अभी भी वहीं थे। उसने पर्णों को झकझोरकर बूंदों को धरती पर गिराने का विचार त्याग दिया।

सम्पन्न



6] उनका मिलना

उसने दूर से किसी को आते देखा। वह हर्षित हो गया। यह तीसरा अवसर था जब उसने किसी मानव आकृति को देखा था। वह उस दिशा में थोड़ा आगे बढ़ा। वह प्रभात होते ही उस मार्ग पर चल पडा था और अब सूरज भी पश्चिम की तरफ गति करने लगा था। कहने को उसे मार्ग कह सकते हैं किन्तु वह केवल एक संकरी सी पगडंडी ही थी जो अरण्य से निकलती हुई पहाड़ पर स्थित एक मंदिर को ले जाती थी।

वह मार्ग वैसे तो उसने स्वयं चुना था। उस मार्ग की बाधाओं का उसे संज्ञान था। मार्ग के सौन्दर्य से भी वह विदित था। मार्ग लंबा है, सुनसान भी। मार्ग में तीन चार मोड भी हैं जो छोटे छोटे गाँव तक ले जाते हैं।

उन गांवों में अति अल्प लोग बसते हैं। वहाँ खाने पीने की कोई दुकान नहीं है। मार्ग में कुछ झरनें हैं जिसका पानी पिया जा सकता है। उस मार्ग पर गाँव वालों के अतिरिक्त कोई नहीं चलता। गाँव वालों की संख्या भी इतनी कहाँ थी कि मार्ग पर कुछ गतिविधि दिख पड़े। ऐसी सब बातें उसने सुन रखी थी। सुना तो यह भी था कि गाँववाले भी मार्ग में क्वचित ही मिलते हैं। इन सब बातों का ज्ञान होते हुए भी वह उस मंदिर तक जाना चाहता था और वहाँ तक जाने का यही तो एक मात्र मार्ग था।

उस मंदिर का आकर्षण ही कुछ ऐसा था कि वह अकेला ही मार्ग पर चल पड़ा। उसने कई मित्रों से और अज्ञात व्यक्तियों से भी आग्रह किया था किन्तु इस कठिन मार्ग पर उसका साथ देने को कोई उत्सुक नहीं था। विवश होते हुए वह अकेला ही चल पड़ा था। वह मार्ग, वह मंदिर उसे बुला जो रहा था।

मार्ग के एकाकीपन से, कष्टों से उसे भय नहीं था। किन्तु वह मानव सहज किसी साथी का साथ चाहता था क्योंकि मार्ग इतना लंबा था कि मंदिर तक पहुंचते पहुंचते सूर्यास्त हो जाने वाला था। ऐसे मार्ग में यदि कोई साथी साथ हो तो मार्ग काटने में सरलता हो जाती है। किन्तु ऐसी सरलता कहाँ उसकी नियति थी? वह बस चल पडा अकेला।

उसने यह भी सुन रखा था कि पहाड़ों पर अकेले चलते यात्रिक के साथ एक श्वान अवश्य चलता है। वह मार्ग में कहीं से अचानक आकर साथ साथ चलने लगता है और किसी एक बिन्दु पर जब यात्रिक का ध्यान जाता है तो उसे वह श्वान कहीं दिखाई नहीं देता है। जाने कहाँ से आता है? कब आता है? क्यों आता है? क्यों साथ साथ चलता रहता है? और ना जाने कब, कहाँ, कैसे और क्यों कहीं अदृश्य हो जाता है?

तभी तो वह किसी श्वान के साथ की अपेक्षा लिए चल पड़ा था। एक घंटे तक तो मार्ग में कोई श्वान नहीं दिखा। तब उसने उसकी आशा भी त्याग दी। वह चलता रहा, अकेला ही। इतना चलते हुए भी उसने मार्ग में न तो कोई गाँव देखा न कोई गाँववाला। यहाँ तक कि कोई चरवाहा भी नहीं देखा।

उसने उन सब अपेक्षाओं को झटक दिया और मार्ग पर ध्यान दिया। सहसा वह रुक गया। उन अपेक्षाओं के कारण वह कट चुके मार्ग को पूर्ण रूप से देख भी नहीं पाया था। उसने मुड़कर देखना चाहा- मार्ग में क्या क्या पीछे छूट गया? उसने उसी बिन्दु से कट चुके मार्ग पर विहंग दृष्टि डाली।

उसे दूर नीचे एक बड़ी सी शीला दिखी।

‘वह शीला इतनी विशाल है और मैंने उसे देखा तक नहीं? इतनी विशालता को भी मैं चूक गया? इसका अर्थ है कि अब तक मैंने मार्ग से मित्रता ही नहीं की। जिस मार्ग पर चलना है उस मार्ग से मित्रता करना मैं चूक कैसे गया? जब मार्ग में कोई साथी न हो तो मार्ग को ही साथी बना देना चाहिए ऐसा भी सुना था। और मैंने उसे देखा तक नहीं?’

‘किन्तु उसने तुम्हें अवश्य देखा होगा। उसकी दृष्टि से कुछ भी नहीं छूट सकता। पहाड़ों की शीलाएं बड़ी सचेत होती है। प्रत्येक बिन्दु पर, प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी सावध दृष्टि रहती है। कण कण की वे प्रहरी होती हैं।’

‘तब तो मुझ से बड़ी चूक हो गई। मुझे उससे क्षमा मांग लेनी चाहिए।’

उसने शीला की तरफ हाथ जोड़े और बोला, “ओ विशाल शीला, मैं एक यात्रिक हूँ। किसी कारणवश तुम्हें देख नहीं पाया। मेरे इस अपराध के लिए, मेरी इस धृष्टता के लिए मुझे क्षमा कर देना।” उसने शीश झुका दिया।

शीला ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी।

‘क्या शीला ने मेरी क्षमा याचना का स्वीकार नहीं किया होगा? ऐसा क्यों हुआ होगा?’ उसने मन ही मन अनेक तर्क किए। सहसा उसे उत्तर मिल गया।

“क्षमा दूर से नहीं मांगी जाती है। न ही क्षमा देने वाले से ऊपर रहकर मांगी जाती है। उसके समीप जाकर, उसकी शरण में जाकर क्षमा माँगोगे तो अवश्य ही उसका स्वीकार होगा।” जैसे किसी ने आकाशवाणी करते हुए उससे कहा।

“हाँ, क्षमा मांगने की यही उचित रीति है। मैं ऐसा ही करूंगा।” वह नीचे उतरने लगा। शीला के समीप गया। उसने देखा कि शीला किसी ध्यानस्थ योगी जैसी है। वह उसके चरणों में बैठ गया। आँखें बंद कर क्षमा मांगने लगा।

जब उसने आँखें खोली तो उसके सामने, शीला के चरणों में उसे एक श्वान दिखा। श्वान उसे ही देख रहा था। उसने श्वान की आँखों में देखा। आँखें मिलते ही श्वान पुंछ हिलाता हुआ उसके पास आ गया। उसे प्रतीत होने लगा कि श्वान उसके साथ चलने को तत्पर है। श्वान उसकी प्रदक्षिणा करने लगा। जैसे संकेत दे रहा हो कि - शीला ने उसे क्षमा कर दिया है और मुझे तुम्हारे साथ चलने का आदेश दिया है।

उसे उस श्वान का व्यवहार किसी परिचित श्वान जैसा लगा। श्वान को भी उससे गहरा परिचय हो वैसे उसके साथ चलने लगा।

चलते चलते उसे तृषा लगी। पानी के लिए उसने बहते झरने की खोज में चारों तरफ दूर दूर तक दृष्टि दौड़ाई।

‘कोई झरना नहीं दिख रहा। सुना तो था कि मार्ग में अनेक झरनें हैं। तभी तो मैंने पीने का पानी साथ नहीं लिया है। किन्तु कहाँ हैं ये झरनें? न तो झरना है न पानी है। अब क्या होगा?’ निराश होकर वह एक पत्थर पर बैठ गया। किन्तु श्वान तो चलता रहा।

“ओ श्वान, रुक जाओ। मुझे तृषा लगी है। मैं थक गया हूँ। चल नहीं सकता।”

श्वान ने उसे सुना, उसकी तरफ मुड़कर देखा और पुन: चलने लगा।

‘श्वान रुकता क्यों नहीं? उसने मेरी बात सुनी नहीं या समजी नहीं? उसे रोकना होगा नहीं तो मार्ग में मैं पुन: अकेला रह जाऊंगा।’

वह श्वान के पीछे भागा। श्वान को रुकने के लिए कहता रहा। श्वान रुका ही नहीं, चलता ही रहा।

थोड़ा आगे जाकर श्वान पगडंडी छोड़कर नीचे की तरफ उतरने लगा। वह रुक गया।

‘श्वान ने इस मार्ग को क्यों त्याग दिया? कहीं भटक तो नहीं गया? या कहीं मुझे भटका तो नहीं रहा?’

नीचे उतर रहे श्वान को और उस मार्ग को वह देखता रहा।

‘अरे? नीचे तो झरने से बना तालाब जैसा कुछ है।’ वह प्रसन्न होता हुआ नीचे उतरा। पानी पिया और तृप्त हो श्वान का धन्यवाद करने श्वान की तरफ मुड़ा। श्वान वहाँ नहीं था।

‘कहाँ चला गया? मैं सभी दिशाओं में देखता हूँ। यहीं कहीं होगा।’ उसने उसे खोजा किन्तु श्वान कहीं नहीं मिला।

‘श्वान जैसे आया था वैसे ही चला गया? इस मार्ग पर मैं पुन: अकेला पड गया।’ उसने एक गहन सांस ली। स्वयं से बातें करता हुआ वह लक्ष्य की तरफ गति करने लगा।

‘श्वान भी चला गया। साथ होता तो उससे बातें करता, उसका आभार मानता। किन्तु वह तो अदृश्य हो गया। ऐसे निर्जन किन्तु सुंदर मार्ग पर कोई साथ हो तो? मनुष्य नहीं तो श्वान का साथ भी मन को अच्छा लगता।’

‘सुना था कि मार्ग में गाँव आते हैं किन्तु अभी तक तो किसी गाँव के कोई संकेत भी नहीं मिल रहे हैं। कैसे कटेगा इतना लंबा मार्ग अकेले अकेले?’

मन के साथ, विचारों के साथ उसके चरण भी चल रहे थे।

तीन घंटे से भी अधिक समय से उस मार्ग पर चलते रहने के पश्चात उसने दूर से किसी को आते देखा। वह आकृति दूरी के कारण धुंधली सी दिख रही थी किन्तु इतना स्पष्ट था कि वह किसी मनुष्य की आकृति है। वह हर्षित हो गया।

‘चलो, कोई तो मिलेगा। उसे रोककर कुछ बातें करूंगा। आगे के मार्ग के विषय में पूछूँगा।’

उससे मिलने की अपेक्षा में उसके मन में उत्साह और चरणों में नूतन ऊर्जा स्वत: आ गई। वह द्रुत गति से चलने लगा। वह आकृति भी समीप आ रही थी किन्तु अभी भी बड़ा अंतर था दोनों के मध्य।

हर्षित होते हुए वह प्रकृति को निहारता हुआ चल रहा था। सहसा उसे एक खिला हुआ, रंगीन एवं सुंदर पुष्प दिखाई दिया। वह उसके समीप गया, उसे देखा, उसे स्पर्श किया और उसे तोड़कर अपने पास रख लिया।

‘यह पुष्प मैं उसे दे दूंगा। यही पुष्प हमारे मध्य बातचीत का कारण बनेगा।’

पुष्प हाथ में रखे हुए वह चलने लगा। दूर से आते व्यक्ति की तरफ देखा। उस मार्ग पर वह आकृति नहीं दिखी। उसने आँखों को सतेज किया और पुन: उसे देखने का यत्न करने लगा किन्तु उस मार्ग पर कोई नहीं था।

‘कोई तो था वहाँ। कहाँ चला गया?’

‘कहीं वह मेरे मन का भ्रम तो नहीं था?’

‘भ्रम कैसे हो सकता है? मैंने एक आकृति को देखा था।’

‘हो सकता है, भ्रम हो सकता है। मनोविज्ञान कहता है कि जब हमें किसी व्यक्ति या वस्तु की तीव्र इच्छा होती है तब हमें प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक क्षण वही दिखता है। वास्तव में वह कहीं नहीं होता है।’

‘हो सकता है कि वह मेरा भ्रम हो किन्तु..।’

‘पहाड़ों में ऐसे अनेक प्रकार के भ्रम जन्म ले लेते हैं। यह सहज है।’

‘नहीं। कोई भ्रम नहीं था। कोई तो वहाँ था, अवश्य ही।’

उसने उस दिशा में दौड़ लगाई। आगे जाकर वह रुक गया।

‘यहाँ पगडंडी से फुटकर एक क्षीण मार्ग नीचे की तरफ जाता है। यह मार्ग कहाँ..? ओह। वह आकृति इसी मार्ग से नीचे जा रही है।’ वह उसे क्षण भर देखता रहा।

‘तो वह यहाँ से मूड गई। मिलन से पूर्व ही उसने मार्ग बदल लिया? उसे ऐसा नहीं करना था। कुछ क्षण रुकना था। अब यह पुष्प मैं किसे दूंगा?’ उसका ध्यान हाथ में स्थित पुष्प पर पड़ा।

‘क्या करूँ इस पुष्प का? साथ ले चलूँ या इसे यही छोड़ दूँ?’

‘इसे यहीं कहीं छोड़ दो। इस मार्ग पर, इस स्थान पर तुमने किसी मनुष्य आकृति को प्रथम बार देखा है। उसके स्मरण में इसे यहीं कहीं रख दो।’

‘कहाँ रखूं?’ वह कोई स्थान खोजने लगा।

‘हाँ ये दो पत्थर दिख रहे हैं उसके मध्य थोड़ा रिक्त स्थान है। इन पत्थरों की छाँव में यह सुरक्षित रहेगा।’ उसने उस स्थान पर पुष्प रख दिया।

‘लौटते समय तक तुम यहीं रहना। हम कल पुन: मिलेंगे।’ पुष्प से कहता हुआ वह अपने गंतव्य की तरफ चलने लगा।

दो घंटे और चलने के पश्चात उसने दूर से आती हुई तीन आकृतियों को देखा। उसे देखते ही वह पुलकित हो गया।

‘इस बार एक नहीं, तीन तीन मानव आकृतियाँ दिख रही हैं। और वे सब इसी मार्ग पर आ रही हैं। अब इनसे मेरा मिलन अवश्य होगा। उन तीनों से मैं अनेक बातें करूंगा।’

वह चलता रहा, आकृतियाँ भी समीप आती रही। कुछ अंतर पर तीनों आकृतियाँ रुक गई। सहसा एक आकृति बाईं दिशा में और दूसरी आकृति दाहिनी दिशा में मूड़ गई।

‘क्या वहाँ दो मोड होंगे? ठीक है, तीसरी आकृति तो ..?’ उसने तीसरी आकृति पर ध्यान दिया। वह उसी मार्ग पर लौट गई जहां से आई थी। देखते देखते तीनों आकृतियाँ बिखर गई। वह बस उन्हें देखता रहा।

वह दौड़ा किसी एक आकृति से मिलने की अपेक्षा में किन्तु वे तीनों पहाड़ी आकृतियाँ थीं, उनकी गति के सामने उसकी गति कहीं अधिक मंद थी। तीनों आकृतियाँ पहाड़ों में कहीं लुप्त हो गई।

वह पुन: निराश हो गया। वहीं बैठ गया। लंबी लंबी सांसें लेता हुआ उन मार्गों को देखता रहा जिन पर तीनों आकृतियाँ लुप्त हो गई थीं।

‘कैसा है यह मार्ग? कैसी निर्जनता है यह? यहाँ कोई आता जाता ही नहीं। न ही कोई यहाँ रहता है। कुछ आकृतियाँ दिखाई देती हैं और पलक झपकते ही अदृश्य हो जाती है। पहाड़ें अपने भीतर न जाने क्या क्या रहस्य समेटे खड़े हैं। क्या कभी उसका ताग लगाया जा सकता है? मुझे तो यह असंभव ही प्रतीत होता है।

मुझे पहाड़ों के रहस्यों को जानने का विचार त्यागना होगा। किसी के मिलन की आशा को भी छोड़ना होगा। केवल अपने मार्ग पर, अपने लक्ष्य पर ध्यान देना होगा। बाकी सब भ्रम है, छलना है। मुझे ऐसे किसी भ्रम में फंसना नहीं है। यही सत्य है। इसी सत्य को स्वीकारना होगा। मुझे चलना होगा, चलते रहना होगा।’

वह उठा और चलने लगा।

सूरज मध्यान् को पार कर गया। उसकी यात्रा भी मध्यान् से अधिक पूर्ण हो चुकी थी। गगन को देखकर उसने समय का अनुमान लगाना चाहा।

‘यह क्या? सूर्य का प्रकाश मंद पड रहा है। ये बादल कहाँ से आ गए? ये तो वर्षा के बादल हैं। अवश्य ही वर्षा होने वाली है।

इस प्रकार सूर्य प्रकाश के मंद होने का मैंने संज्ञान ही नहीं लिया। ये बादल अचानक तो नहीं आए होंगे, मैं ही उन पर ध्यान देना चूक गया। यदि वर्षा हुई तो मेरी यात्रा बाधित हो जाएगी। तो?’

वह तेज गति से चलने लगा। बादलों की गति उसकी गति से अधिक थी। उसने सूर्य को ढँक दिया। छोटी छोटी बूंदें गिरने लगी जो शीघ्र ही तेज वर्षा में बदल गई।

‘किसी शीला के सहारे या किसी वृक्ष के नीचे रुकना होगा। कहाँ रुकूँ?’ उसे एक शीला दिख पड़ी। वह विशाल थी। उसके आश्रय में वह छिप गया।

‘वर्षा से तो बच रहा हूँ किन्तु यदि यह स्थिति ऐसी ही रही तो मार्ग में ही रात्रि हो जाएगी। तब कहाँ आश्रय मिलेगा? कोई गाँव या घर भी नहीं दिख रहा है।’ वह चिंतित हो गया।

कुछ समय पश्चात सहसा पवन ने दिशा बदल ली। जिस शीला का आश्रय लिया था उस पर भी वर्षा गिरने लगी। वह भीगने लगा। उसने शीला की दूसरी तरफ आश्रय लिया। वहाँ से आकाश को देखने लगा। सहज ही उसके अधरों पर स्मित आ गया।

‘दूर कहीं बादल छंट रहे हैं। सूरज उन्हें शीघ्र ही परास्त कर देगा।’ कुछ ही क्षणों में बादल आगे निकल गए, वर्षा थम गई।

‘अगली वर्षा हो उससे पूर्व मुझे मंदिर पहुंचना होगा।’ वह तीव्र गति से चलने लगा।

एक घंटे के पश्चात उसने दूर किसी को देखा। यह तीसरा अवसर था जब उसने किसी मानव आकृति को देखा था। वह पुन: हर्षित हो गया। थोड़ा समीप गया। उसे एक युवती दिखाई दी। वह दूर खड़ी थी, किसी पेड़ के समीप।

‘अवश्य ही समीप में कोई घर या गाँव होगा। यदि रात्रि को रुकना पड गया तो वहाँ आश्रय मिल जाएगा।’

स्वयं को आश्वस्त करता हुआ वह युवती की तरफ चलने लगा। अब वह इतना समीप था की उस युवती को वह स्पष्ट रूप से देख सकता था। वह उत्साह में थोड़ा और आगे बढ़ा।

वहाँ एक मोड था जो दाहिने हाथ पर मूड रहा था। उस मोड पर उसने अनायास ही उड़ती दृष्टि डाली। उसे एक बड़ा पत्थर दिखा जिस पर लिखा था-

‘पर्वतेश्वर महादेव - डेढ़ किलोमीटर।’ नीचे दाहिनी दिशा में तीर का चिह्न खींचा हुआ था।

‘ओह, मेरा मार्ग यहीं मूड जाता है। और यह पगडंडी कहीं सीधे जा रही है। मुझे यहीं मुड़ना होगा।’

‘किन्तु वह युवती कुछ ही अंतर पर है। वह इस तरफ ही आएगी। उसे मिलकर जाना।’

‘किन्तु वह तो रुकी हुई है। न जाने कब से।’

‘मैं भी रुक जाता हूँ कुछ समय के लिए। प्रतीक्षा कर लेता हूँ। इस मार्ग पर आकर वह कहीं नहीं मुड़नेवाली। और यदि मुड़ेगी तो मंदिर के इस मार्ग पर ही मुड़ेगी। तब तो हम साथ साथ चलेंगे। मुझे उसकी प्रतीक्षा कर लेनी चाहिए।’

वह रुक गया। प्रतीक्षा करते करते समय व्यतीत हो रहा था। सूरज अस्त होने को उतावला हो रहा था। किन्तु वह युवती वहाँ से आगे ही नहीं बढ़ रही थी।

‘वह नहीं आ रही है। तो मैं तो उसके पास जा सकता हूँ। जाकर मिल सकता हूँ। कब से किसी के मिलन को तरस रहा हूँ। बातें करना चाहता हूँ। तो मिल लूँ उसे? कर लूँ कुछ बातें?’

‘बातों में तो समय लग जाएगा। तब तक सूरज ढल गया तो?’

‘तो उसके घर में रुक जाऊंगा।’

‘किन्तु मेरा गंतव्य तो मंदिर है। मैं नहीं रुक सकता।’

‘रुक जाता हूँ। मंदिर कल चला जाऊंगा।’

‘तब तो विलंब हो जाएगा। जिस काम के लिए जा रहा हूँ वह तो छूट ही जाएगा। कल प्रात: काल में इस डेढ़ किलोमीटर चलकर मंदिर पहुंचते पहुंचते दिन चड जाएगा।’

‘नहीं। मैं नहीं रुक सकता। मंदिर में रात्री भर रुककर, सूर्योदय से पूर्व जागकर, कार्य सम्पन्न करना है। उस अद्भुत क्षण को भोगना है। यदि मैं उन क्षणों को चूक गया तो मेरा सारा परिश्रम ही व्यर्थ हो जाएगा। मुझे चलना होगा।’

वह मंदिर जाते मार्ग पर मूड गया। किन्तु मन को तो वह उसी पेड़ पर छोड़ आया था जिसके नीचे युवती खड़ी थी। उसी मन ने कुछ दूर निकल चुके उसे सूचित किया, ‘मुड़कर एक बार उसे देख तो ले।’

वह मुड़ा। उसने उस पेड़ को देखा। वह युवती वहाँ नहीं थी। उसने दूर तक देखा। उसे युवती दिखी।

‘वह उस मोड को पार कर गई जिस मोड पर मैं मूड गया था और उसी मार्ग पर जा रही है जिस मार्ग पर चलकर मैं यहाँ मूड गया था।’

‘कुछ समय और रुक जाता तो उससे मिलन हो जाता।’

‘कैसे रुकता? समय थोड़े न रुक जाता?’

‘क्या वह मेरे मुड़ने की ही प्रतीक्षा कर रही थी?’

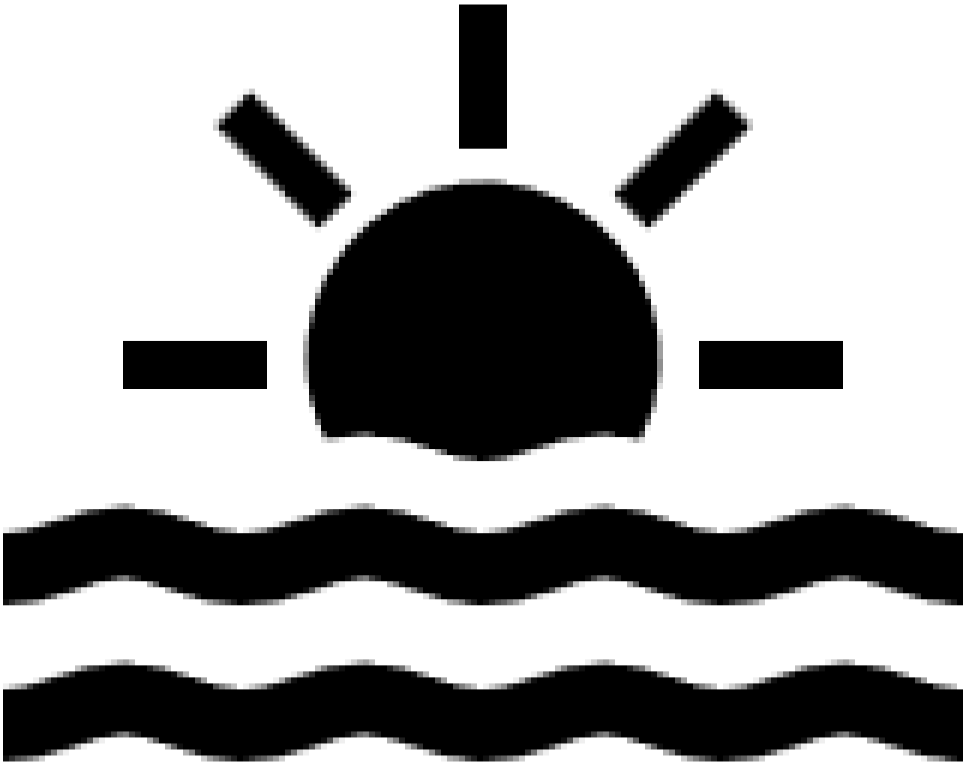
‘छोड़ उसे। जो बित गया सो बित गया। मुझे अपने मार्ग पर चलना होगा।’

विवश होकर वह चलता रहा। तमस के आगमन से पूर्व ही मंदिर में प्रवेश कर गया।

सूर्योदय की उन अद्भुत क्षणों को भोगकर वह दूसरे दिन लौट आया। मार्ग में उसे अनेक व्यक्ति दिखे। उसने न तो किसी पर ध्यान दिया न ही किसी से बात की।

वह सीधा ही उन दो पत्थरों के पास गया जहां उसने कल वह पुष्प रखा था। वह पुष्प वहाँ नहीं था।

सम्पन्न



7] मरू मालती

“मैं मरुभूमि में पहुँच चुकी हूँ। तुम कैसे हो?”

“मैं तो ठीक हूँ। तुम्हारी यात्रा कैसी रही? वहाँ सब व्यवस्थाएं ठीक हैं न?”

“हाँ, सब ठीक है। मैं तुम्हें एक पत्र भेज रही हूँ उसे पढ़कर उत्तर अवश्य देना।”

“क्या कहा, पत्र? उस निर्जन मरुभूमि में तुम्हें डाक घर कहाँ मिल गया?”

“यहाँ डाक घर कहाँ?”

“तो?”

“मैंने अपने हाथ से एक पत्र लिखा है। उसका चित्र खींचकर भेजती हूँ। उसकी प्रिन्ट लेकर, घर की छत पर जाकर एकांत में उसे पढ़ना।”

“जब मोबाईल में मैं पढ़ सकता हूँ तो प्रिन्ट की क्या आवश्यकता?”

“पत्र तो कागज पर ही लिखा और पढ़ा जाता है, मोबाइल पर नहीं।”

“तुम भी ना, किस युग में जी रही हो?”

“एक बार पत्र को कागज पर उतारकर पढ़ना, पढ़ने में तुम्हें आनंद मिलेगा।”

“ठीक है, जो तुम कहो। अब रखूं?”

“एक और बात। तुम्हें पत्र का उत्तर भी देना है, केवल कागज पर लिखकर। और उसका चित्र खींचकर भेजना है, जैसे मैंने भेजा था।”

“उससे क्या होगा?”

“मैं क्यों बताऊँ? तुम करके देख लो।” दोनों ने फोन सम्पन्न किया।

उसने पत्र को कागज पर उतारा और रात्रि में छत पर जाकर पढ़ने लगा।

“यहाँ का आकाश पूरी तरह से स्वच्छ है। रात्रि में भी यदि आकाश ऐसा ही रहा तो तारों से भर जाएगा पूरा आकाश।

तुम महानगर के आकाश को देखो। एक भी तारा दिख पड़ता है? मुझे पत्र लिखकर बताना। तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा में,

तुम्हारी।"

"तुम्हारी? अपना नाम तो लिखती।"

उसने पत्र बंद करके आकाश में देखा।

"कृष्ण पक्ष के आकाश में भी एक भी तारा नहीं दिख रहा। तुम तो तारों से भरे गगन को निहारती होगी।" वह मन ही मन बोला। चिरकाल तक देखते रहने पर भी वह एक तारा नहीं देख पाया इतने विशाल गगन में।

वह कक्ष में लौट आया। कागज और लेखिनी लेकर अपनी पत्नी को पत्र लिखने लगा। पत्र सम्पन्न कर, उसका चित्र खींचकर उसे भेज दिया।

"मेरा पत्र मिला?"

"हाँ, मिला।"

"वहाँ प्रिंटर तो है नहीं तो कैसे पढ़ोगी? तो भेज दूँ एक प्रिंटर?"

"दूसरी बार आऊँगी तो वह लेती आऊँगी। अभी तो मैं मोबाइल में ही पढ़ लूँगी।"

"क्या तुम्हारे आकाश में तारें दिख रहे हैं?"

"पूरा आकाश तारों से छलक रहा है। देखना चाहोगे?"

उसने मरुभूमि के आकाश का दृश्य पति को दिखाया।

"अद्भुत!"

"और?"

"अद्भुत से आगे क्या बोलूँ?"

"यदि इस समय तुम यहाँ होते तो इससे आगे भी कुछ बोलते। किन्तु तुम..।"

उसने बात अपूर्ण छोड़ दी। उस छोड़ी हुई बात का अर्थ वे दोनों जानते थे। अत: दोनों मौन ही रही। कुछ समय दोनों आकाश को देखते - दिखाते रहे।

"दूसरी बार तुम भी मेरे साथ आ जाना।"

"तुम जानती हो, मैं नहीं आनेवाला। किन्तु तुम्हें जाने से मैं नहीं रोकूँगा।"

“रोकना नहीं, साथ होना नहीं होता।” उसने एक गहन सांस ली और मुख फेर लिया। फिरे हुए मुख के भावों को भी वह पढ़ना जनता था। अत: मौन ही रहा।

“सो जाओ। तुम्हें कल काम पर भी जाना है।”

“और तुम?”

“मैं रात्रि भर आकाश को देखती रहूँगी। तारों से बातें करूंगी। मुझे कहाँ कहीं जाना है?” बात सम्पन्न करके दोनों अपने अपने आकाश में मग्न हो गए।

वह मरुभूमि से पत्र भेजती रही। वह उसे प्रिन्ट कर लेता और रात्री में आकाश के नीचे पढ़ लेता। प्रत्युत्तर भी देता। समय का चक्र चलता रहा। पंद्रह वर्ष व्यतीत हो गए।

***

वह उसका पत्र पढ़ रहा था।

“अगले महीने हमारे विवाह के पचास वर्ष पूर्ण होने वाले हैं। उसे मनाना है। मैं बहत्तर की और तुम तिहत्तर के हो चुके हो। कब तक महानगर में ही रहोगे? सब कुछ छोड़कर कुछ दिनों के लिए यहाँ आ जाओ। एक बार आ जाओगे तो महानगर में लौटने का मन ही नहीं करेगा।”

वह सोचने लगा। ‘क्या बूढ़े हो गए हैं हम? छोड़ दूँ सब?’ उसने उत्तर लिख दिया-

“चला आऊँगा, सब कुछ छोड़कर। बस कुछ दिनों की प्रतीक्षा कर लो।”

पढ़कर वह हर्ष से उछल पड़ी। उस रात्री उसने उत्तम शृंगार किया और चंद्रमा को रात्रि भर देखती रही, किसी विरहिणी- वासकसज्जा नायिका बनकर।

पूर्व से सूर्य के आगमन के संकेत दिखे तब उसकी प्रतीक्षा भंग हुई।

“आज आकाश का रंग भिन्न है। पंद्रह वर्षों से इस आकाश को देख रही हूँ। ऐसा रूप रंग कभी नहीं देखा। क्या संकेत हो सकते हैं इसके? क्या यह किसी होनेवाली अनहोनी घटना के सूचक है? मुझे आज इस मरुभूमि से भय लग रहा

है। हो सके तो तुम आज ही, अभी ही आ जाओ।” उसने पति को पत्र भेज दिया।

“ऐसा कुछ नहीं होगा। तुम निश्चिंत रहो। हो सकता है रातभर जागने से तुम्हें कुछ भ्रम हुआ हो। हो सके तो तुम ही सबकुछ छोड़कर यहाँ आ जाओ। विवाह की वर्षगांठ यहाँ मना लेंगे।” पति का प्रत्युत्तर आया।

“मुझे भ्रम नहीं हुआ है। मरुभूमि को मैं वर्षों से जानती हूँ। निश्चय ही कुछ ठीक संकेत...।”

वह पत्र पूर्ण करे उससे पूर्व उसे तेज हवा की ध्वनि सुनाई दी। वह बाहर दौड़ी। रेत की झंझा उसके पास पहुँच चुकी थी। तीव्र हवा और चक्रवात के भंवर ने उसे अपने भीतर समा लिया।

***

“श्रीमान माधव बोल रहे हैं?” फोन से शब्द निकले।

“जी कहिए।”

“मरुभूमि से मैं सेना का कैप्टन विशाल बोल रहा हूँ। क्या आप किसी मालती को जानते हो?”

“मेरी पत्नी का नाम है वह। क्या हुआ उसे? वह ठीक तो है?”

“धैर्य रखकर सुनना होगा।”

माधव ने आँखें बंद कर ली। सांस रोककर, फोन पर कान धरकर वह मौन खड़ा रहा।

“आज प्रात: काल आए रेत के चक्रावात में आपकी पत्नी फंस गई थी। हवा के साथ बहती हुई वह छावनी पर आ गिरी थी।”

“कैसी है वह अब? आप उसे उत्तम से उत्तम उपचार उपलब्ध कराएं। मैं शीघ्र ही वहाँ आ रहा हूँ।”

"अब उसे इसकी आवश्यकता नहीं है। वह इस संसार को छोड़ चुकी है।"
"क्या?" वह आगे बोल न सका। हाथ से फोन गिर गया। उसमें से आ रहे कैप्टन विशाल के शब्द नष्ट हो गए।

***

"मृतात्मा की तर्पण विधि सम्पन्न हुई। अब उनकी अस्थियों को गंगा में विसर्जित करना होगा।"
वाराणसी के गंगा घाट पर माधव से जब तीर्थ पुरोहित ने कहा तो क्षणभर वह मालती के शोक से ग्रस्त हो गया।
'अब तक धैर्य रखे हुए, सभी उत्तर क्रिया सम्पन्न करनेवाला मैं अचानक टूट क्यों गया? मुझे बिखरना नहीं है।'
स्वयं को संभालते हुए माधव तीर्थ पुरोहित के साथ नाव में सवार हो गया। वाराणसी के घाटों को पार करती हुई नाव उत्तर दिशा में गति करने लगी।
"श्रीमान, यही एक मात्र स्थान ऐसा है जहां गंगा उत्तर से दक्षिण के स्थान पर दक्षिण से उत्तर की तरफ बहती है। इसे उत्तरवाहिनी भी कहते हैं। इसी कारण यह मोक्ष दायिनी मानी जाती है।"
"यहाँ अस्थि विसर्जन से आत्मा की गति कैसी होती है?"
"आत्मा की गति कर्मों के अनुसार होती है। अस्थियाँ हम कहीं भी विसर्जित करें, कोई अंतर नहीं पड़ता आत्मा की गति पर।"
"तो यहाँ आना क्या व्यर्थ हो गया?"
"व्यर्थ कोई कर्म नहीं जाता। यह कर्म भी।"
"मेरी पत्नी की आत्मा की गति कैसी होगी?"
"आत्मा की तीन प्रकार से गति मानी गई है।
एक, मोक्ष, मुक्ति। जन्म मृत्यु के बंधन से मुक्त।

दो, पुनर्जन्म- आत्मा अपने सभी पूर्व जन्मों के कर्मों को साथ लिए नए शरीर को धारण कर लेती है।

तीन, इन दोनों गति से भिन्न। न मुक्ति, न पुनर्जन्म।"

"तीसरी अवस्था क्यों होती है?"

"जब आत्मा अपने शरीर के साथ बंधे मोह में फंस जाती है तब उक्त दोनों गतियों में उसे बाधा होती है।"

"उस मोह को नष्ट करने हेतु हम, जो जीवित रहते हैं, कुछ कर सकते हैं?"

"यही तो हमें करना होता है जिससे आत्मा उचित गति कर सके। पितृओं के प्रति हमारा यही कर्तव्य है।"

"मुझे क्या करना होगा?"

"जो भी कोई स्थूल सूक्ष्म वस्तुएं हैं जिससे आपकी पत्नी का मोह हो सकता है, उसे किसी को दान कर दीजिए। इससे मृतात्मा मोह से मुक्त हो जाएगी।"

"सूक्ष्म मोह क्या होता है?"

"मोह स्वयं तो निराकार ही होता है। किन्तु वह होता साकार के प्रति ही है। जो प्रकट भी हो सकता है, अप्रकट भी। अपूर्ण अभिलाषाएं भी सूक्ष्म मोह की जनक होती हैं।"

"धन्यवाद, पुरोहित जी।"

माधव ने अस्थि प्रवाहित कर दिए। हाथ जोड़ शुद्ध ह्रदय से माँ गंगा को प्रार्थना की। नाव लौट आई तट पर।

***

"स्थूल सभी वस्तुएं जिससे मालती का मोह हो सकता है, मैंने दान कर दी। किन्तु पुरोहित जी ने 'सूक्ष्म' की भी बात कही थी। वह क्या हो सकता है?"

माधव विचारने लगा। लंबे समय तक क्षितिज को देखता रहा। संध्या ढल गई। तमस भी उतर आया। अनायास उसका ध्यान व्योम पर गया। वहाँ एक भी तारा उसे नहीं दिखा।

‘सूक्ष्म वही होता है जो होता तो है, दिखाई नहीं देता? जैसे इस नभ के तारे?’

‘मालती, तुम सदा कहती थी कि मरुभूमि के व्योम में असंख्य तारें दिखते हैं, स्पष्ट। कहाँ यह आकाश और कहाँ मरुभूमि का आकाश?’

‘मरुभूमि? कदाचित मालती का सूक्ष्म मोह वह मरुभूमि तो नहीं?’

‘सूक्ष्म मोह अनुभवगत होता है। अवश्य मरुभूमि ही उसका सूक्ष्म मोह होगा।’

‘यदि ऐसा है तो मुझे स्वयं मरुभूमि में जाकर देखना होगा। वहाँ ऐसा कैसा मोह था जो वह वर्ष में दो दो महीनों के लिए दो दो बार मरुभूमि में चली जाती थी?’

‘मैं जाऊंगा, मैं मरुभूमि जाऊंगा।’

‘केवल जाने से काम नहीं होगा, उस मोह को स्वयं भोगना पड़ेगा तभी उस मोह से मुक्ति का उपाय प्राप्त होगा।’

‘ठीक है मैं जाऊंगा। मैंने वचन दिया था कि विवाह की पचासवीं वर्षगांठ के दिन मैं मरुभूमि में आऊँगा। और उसकी भी यही इच्छा थी।’

‘किन्तु अब वह वहाँ नहीं है। तो जाने का कोई कारण भी नहीं है।’

‘ठीक कह रहे हो किन्तु उसकी अंतिम ज्ञात इच्छा तो यही थी कि मैं एक बार मरुभूमि के भोगों को भोगूँ।’

‘ऐसा है तो अल्प से अल्प एक बार तो मुझे जाना ही होगा।’

‘किन्तु मरुभूमि को मैं जानता ही नहीं। कैसे जा सकूँगा?’

वह उलझ गया। कुछ समय बीतने पर वह घर के भीतर लौट आया। उसे मालती के पत्रों से भरी पेटिका दिखी। उसकी आँखों में नूतन तेज उभर आया।

‘मालती, मैं तुम्हारी मरुभूमि को जानता हूँ। तुमने मेरा परिचय करवाया है मरुभूमि के कण कण से, उसके प्रत्येक सौन्दर्य से। इन पत्रों के माध्यम से।’

***

‘मरुभूमि का प्रवेश द्वार तो आ गया। इस तिराहे से किस तरफ जाना होगा?’
वह गाड़ी से नीचे उतरा। चारों तरफ देखने लगा।
‘मालती के पत्रों से ही कुछ मार्ग मिलेगा।’ पत्रों को देखने लगा। एक पत्र मिला। उसे पढ़ने लगा।
“मरुभूमि के प्रवेश द्वार पर दाहिने हाथ पर एक छोटा सा शिव मंदिर है जिसकी शिवलिंग श्वेत है और नंदी का वर्ण श्याम है। उस मंदिर के पीछे से एक मार्ग जाता है उस मार्ग पर दो घंटे की यात्रा के पश्चात छोटा सा एक गाँव आता है। उस गाँव को पारकर दूसरे छोर पर दाहिने हाथ पर मोड आता है। वहाँ से एक घंटा अंतर पर जो मकान है वही मेरा मरुभूमि का निवास स्थान है।”
पत्र में कहे मार्ग पर तीन घंटा यात्रा करने के पश्चात उसे एक मकान दिखा। माधव वहीं रुक गया। गाड़ी से उतरा और मालती ने मकान का जो चित्र भेजा था उसे देखने लगा।
“चित्र अनुसार यही मकान हो सकता है। थोड़ा धुंधला दिख रहा है। पंद्रह वर्षों में इसका रंग मंद पड गया होगा। समीप जाकर देखता हूँ।”
वह समीप गया, लोहे का बड़ा द्वार खोलकर भीतर गया।
“यहाँ चबूतरे पर एक कुर्सी दिख रही है। चित्र में भी एक कुर्सी दिख रही है। ऐसी ही।
हाँ, कुर्सी तो वही है। तो मकान भी यही है।”
वह कुर्सी पर बैठ गया। वहाँ का निरीक्षण करने लगा।
‘यहाँ दूसरी कुर्सी कैसे आ गई? उसमें तो एक ही कुर्सी थी।’
“वह कुर्सी तुम्हारे लिए मँगवाई थी। विवाह की वर्षगांठ पर तुम जो आनेवाले थे।”
शब्द सुनकर माधव चौंक गया।

‘क्या मालती ने कहे इन शब्दों को? ये कैसे हो सकता है? मैंने अपने हाथों से उसे अग्निदाह दिया है।’

“इन शब्दों को मैंने ही कहे हैं।” मालती माधव के सम्मुख आकर बोली।

“तुम..?”

“मेरा शरीर नष्ट हुआ है, आत्मा नहीं। मैं यहीं हूँ और यहीं रहूँगी, तुम्हारे साथ, प्रत्येक क्षण।”

“मेरे साथ?”

“क्यों? नहीं रह सकती?”

“मैं... तुम...।”

“क्या तुम्हें मुझसे भय लग रहा है? भयभीत न हो। इस मरुभूमि में मैं तुम्हारी सहयात्री बनकर रहूँगी।”

“ऐसा क्या? तो आओ बैठो मेरे समीप। इस कुर्सी पर।”

“वह कुर्सी तो तुम्हारे लिए है। मेरी कुर्सी पर तो तुम बैठे हो।”

“ओ..ह..।” वह उठा, “मैं मेरेवाली कुर्सी पर बैठ जाता हूँ। तुम बैठो अपनी कुर्सी पर।”

उसने मालती को कुर्सी पर आमंत्रित किया किन्तु वहाँ कोई नहीं था।

“कहाँ हो तुम, मालती? तुम थी या मेरा भ्रम? या मेरी कल्पना?”

“मैं यहीं हूँ, तुम्हारे साथ।”

“तो बैठ जाओ न?”

“आत्माएं बैठती नहीं हैं।”

“तो मुझे उस कुर्सी से उठाया क्यों?”

“तुम्हें तुम्हारी कुर्सी पर बिठाना था मुझे। उस पर बैठे हुए तुम को देखकर मन को संतोष हो रहा है।”

“आत्माओं के मन होते हैं?”

एक मधुर हास्य देती हुई वह चली गई।

अंतराल तक वह वहीं बैठा रहा। संध्या बीत गई और तमस उतर आया तभी वह उठा, ताला खोलकर मकान के भीतर गया। उसने सारा घर निहार लिया।

“इतने अल्प साधनों से कैसे वर्ष के चार चार महीने जी लेती थी तुम?”

“आवश्यक सभी साधन तो हैं ही। और क्या चाहिए?” मालती प्रकट हो गई।

“ठीक है। अब मैं क्या करूँ ऐसे में?”

“मरकर भी मुझे ही बतानी पड़ेगी हर बात? कुछ तो स्वयं कर लो।”

“आत्माएं ताना नहीं मारा करतीं।”

“चलो बताती हूँ। पीछे के भाग में रसोईघर है। वहाँ चूल्हा है, माचिस है, पानी है, नमक है, काली मिर्च है। सब एक पात्र में डाल दो, चूल्हा जलाकर उसे गरम करो।” माधव ने वैसा ही किया।

“जब तक पानी गरम हो, तुम जो साथ लेकर आए हो उसे खा लो।”

भोजन सम्पन्न होते ही उसे ठंड लगने लगी।

“मरुभूमि की शीतलता से बचने के लिए गरम किया हुआ पानी पी लो। ठंड भाग जाएगी।”

माधव ने पानी पीया।

“शरीर को उष्णता मिल रही है।”

“थके हो तुम। अब सो जाओ। सूर्योदय से पूर्व जागना है तुम्हें।”

“क्यों इतना शीघ्र? मुझे कहाँ किसी काम पर जाना है?”

“तुम्हें उषा का दर्शन करना है।”

“उषा कौन है?”

“उषा कोई नहीं है।”

“तो?”

“सूर्योदय से पूर्व की अवस्था को उषा कहते हैं।”

“ओ… ह…।”

“मरुभूमि की उषा कैसी होती है, जानते हो?”

“कैसी होती है?”
“कल तुम स्वयं देख लेना। मैं क्यों बताऊँ?” वह चली गई।

***

सूर्य की प्रचंड किरणों ने जब घर में प्रवेश किया तभी माधव की निद्रा भंग हुई।
“इतना दिन चड गया और मैं सोता ही रहा?” वह घर से बाहर आया।
“इतना प्रकाश? मरुभूमि का प्रकाश!” वह कुर्सी पर बैठ गया।
“इतना प्रकाश भी होता है क्या? प्रखर प्रकाश से स्वयं का अनुकूलन करना होगा मुझे।” चारों तरफ देखने लगा।
“आज क्या करूँ? उषा और सूर्योदय तो छूट गया। अब क्या?”
“मालती के पत्रों को पढ़ लेता हूँ, मरुभूमि से परिचय का यही उपाय है।” वह उठा। पत्र पेटिका खोलने लगा।
“पत्रों को खोलने की आवश्यकता नहीं है।”
“तो तुम भी जाग गई?”
“आत्माएं सोती नहीं है। मैं हूँ न? पत्रों को वहीं रहने दो।”
“तो तुम प्रत्येक क्षण यहीं रहोगी, मेरे साथ?”
“अवश्य।”
“तो ठीक है, तुम ही बताती रहना कि मुझे क्या करना है।”
“तुम मेरी बात मानो तो न?” वह दूर चली गई।
“अब क्या हुआ? अभी तो साथ रहने की बात की और अभी रूठ गई?”
“कल मैंने तुम्हें कहा था कि उषा का दर्शन करना है किन्तु तुम जागे ही नहीं। अब रूठूँ नहीं तो क्या करूँ?”
“हाँ जानता हूँ। किन्तु नींद ही नहीं टूटी। तुम तो जगा सकती थी मुझे?”

“कैसे जगाती? लंबी यात्रा की थकान थी और मरुभूमि की स्थिति से तुम्हारे शरीर का परिचय भी नहीं था।”

“कितनी शीतल रात्रि भी थी।”

“तभी तो वह गरम पानी पिलाया था तुम्हें।”

“और अभी देखो, कैसी धूप खीली है।”

“यही मरुभूमि का स्वभाव है।”

“बिल्कुल तुम्हारे जैसा।” वह हंस पडा।

“व्यंग करना नहीं गया तुम्हारा।”

“यही तो तुम्हारा सौन्दर्य भी है, हैं न?”

“तुम भी न।” मालती थोड़ी समीप आ गई।

माधव कुछ समय तक उसकी आँखों को देखता रहा।

“आत्मा होने पर भी तुम्हारा सौन्दर्य वैसा ही है।”

“तुम मरुभूमि में हो, यहाँ का सौन्दर्य भी देखना है तुम्हें।”

“कैसे कैसे सौन्दर्य हैं यहाँ? उसे देखकर मुझे महानगर भी लौटना है।”

“चार दिन तक तो तुम कहीं नहीं जा सकते।”

“क्यों?”

“हमारे विवाह की पचासवीं वर्षगांठ जो है।”

“सो तो है किन्तु मैं अकेला..?”

“मैं हूँ ना, मेरे साथ....।”

“तुम तो चली गई।”

“इन दिनों मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगी।”

“आत्मा बनकर?”

“तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं?”

“किसी भी रूप में रहो, बस सदा साथ रहना।”

“इन दिनों रहूँगी साथ।”

“इन दिनों के पश्चात?”

“वह मैं वर्षगांठ के दिन बताऊँगी।”

माधव मौन हो गया। दूर क्षितिज में कहीं खो गया।

“चलो उठो। कई काम करने हैं हमें। हमारे पास उदास होने का समय नहीं है।”

“मुझे कोई काम नहीं करना है।”

“मरुभूमि के सौन्दर्य को…।”

“देखना ही है न? देख लूँगा।”

“तुम समझे नहीं। सौन्दर्य को देखना नहीं है, भोगना है तुम्हें। जैसे मैं भोगती थी।”

“भोगना क्या होता है?”

“स्वयं अनुभव कर लेना।”

“क्या क्या है मेरे भोग में?”

“बाहर निकलो, सब समझ आ जाएगा।”

सज्ज होकर बाहर आते ही बोल पड़ा, “यह तो अधिक उष्ण है। पवन है या साक्षात अग्निदेवता?”

“यह उष्ण पवन भी अच्छी लगेगी।” उसने मालती का स्मित देखा। प्रत्युत्तर स्मित दे दिया उसने।

वह पैदल मरुभूमि के मार्ग पर चलने लगा।

“तृषा से कंठ सुख रहा है। कहीं पानी मिल जाए तो?”

“दूर देखो, वहीं पानी दिख रहा है?” मालती ने संकेत किया।

“हाँ, पानी का तालाब जैसा दिख रहा है। मरुभूमि में ऐसा तालाब?”

“जाओ, निकट जाकर देख लो।” वह चल पड़ा। उस स्थान पर आ पहुँचा।

“यहाँ तो कुछ नहीं है। यहीं तो दिख रहा था पानी? कहाँ गया?”

वह सभी दिशाओं में पानी ढूँढने लगा।

“अरे, पानी तो वहीं दिख रहा है। मुझे अभी और चलना होगा।”

वह चल पड़ा। उस स्थान पर आ गया।

“यहाँ भी पानी नहीं है। अभी तो यहीं था। यह क्या हो रहा है?”

“वास्तव में पानी कहीं नहीं था, न कहीं है।” मालती ने हँसते हुए कहा।

“क्या? पानी कहीं नहीं है? तुम जानती थी तो मुझे यहाँ तक ...।”

“शांत हो जाओ। पानी न होने पर भी पानी दिखना मरुभूमि द्वारा रचा भ्रम होता है।”

“कैसा भ्रम?”

“इसे मरीचिका कहते हैं।”

“ओ...ह..। अब क्या?” वह वहीं रेत पर बैठ गया। बैठते ही उठ गया।

“यह तो तप रही है। कहाँ आ गया मैं यहाँ?”

“तुम उचित स्थान पर हो।”

माधव ने मालती को कटाक्ष भरी दृष्टि से देखा।

“अप्रसन्न न हो, मैं तो परिहास कर रही हूँ।”

माधव की खींची मुख रेखाएं कुछ शिथिल हुई।

“घर लौट चलो। घर में विपुल पानी है। भोजन भी है।”

माधव लौट आया।

“सूर्यास्त का समय हो रहा है।” मालती के शब्द सुनते ही माधव जागा। घर से बाहर निकल आया।

“कहिए श्रीमती जी, क्या करना है मुझे।”

“पीछे के भाग में जाओ। वहाँ से सूर्यास्त दिखेगा।”

“ठीक है, किन्तु सूर्य के अस्त होने में अभी तो समय है।”

“जानती हूँ। तब तक आकाश को देखते रहो।”

“यूं ही? कोई कैसे ऐसे देखता रह सकता है?”

“मैं तो ऐसे ही देखती थी।”

“तुम तुम हो। मैं मैं हूँ। मुझ से न होगा। मैं तो चला भीतर। यहाँ अधिक उष्णता है।”

“रुको जी।” नयनों से मालती ने आग्रह किया।

“तुम इतने स्नेह से बोलोगी तो रुकना ही पड़ेगा।”

“संध्या के समय यहाँ की हवा ठंडी होने लगती है। उसका स्पर्श तुम्हें अच्छा लगेगा।”

“इसके लिए इतनी प्रलंब प्रतीक्षा भी तो करनी होगी न?”

“इसे तपस्या कहते हैं, प्रिये।”

“तुम ऐसी तपस्या करती थी?”

“ऐसा करना मेरी रुचि थी।”

“तो आओ, बैठो मेरे साथ।” माधव चबुतरे पर बैठ गया। समीप ही मालती की उपस्थिति का अनुभव करने लगा।

माधव गतिमान सूरज को दूर क्षितिज में देखता रहा। धीरे धीरे सूर्य अस्ताचल को जा रहा था।

सहसा वेगवान पवन चलने लगी। दिशाएं धुँधली होने लगी। सूरज का प्रकाश मंद पड़ने लगा।

“ये क्या हो रहा है? सूरज कहाँ चला गया?” मालती की तरफ मूड गया माधव।

“इसे रेत की आंधी कहते हैं। सूरज इसमें खो गया है।”

“अब क्या होगा?”

“अब न तो सूर्यास्त दिखेगा न ही संध्या।”

“हे प्रभु!” उसने अपने माथे पर दोनों हाथ रख दिए।

“निराश न हो। कल देखने को मिलेगा सूर्यास्त भी और संध्या भी।”

“मेरे कारण आज उषा दर्शन नहीं हो पाया और अब जब मैं सज्ज था तो आंधी के कारण सूर्यास्त से वंचित हो रहा हूँ मैं। यह कैसा संयोग है?”

“मरुभूमि ऐसी ही अनिश्चितताओं से पूर्ण है।”

“आज का दिन तो व्यर्थ हो गया न?”
“कोई नहीं। जाओ, भीतर जाओ। कुछ ही समय में रात्रि शीतलता को लेकर आ जाएगी। सोने से पूर्व उष्ण पानी ग्रहण कर लेना और उषा के दर्शन के लिए समय पर जाग जाना।”
“तुम जगाओगी तो जाग जाऊंगा।”

***

“चलो उठो, उषा का समय हो रहा है।” मालती ने उसे गहन निंद्रा से जगाया।
माधव ने बाहर देखा।
“अभी तो तमस है और शीतलता भी।”
“यही तो समय है जागने का।”
‘इसका अर्थ है की उषा का आगमन शीघ्र ही हो सकता है। मुझे जागना होगा।’
“ठीक है, जाग जाता हूँ।”
वह बाहर आया। चबूतरे पर रखी कुर्सी पर कंबल ओढ़कर बैठ गया। आकाश को निहारने लगा।
‘दिशा से मंद प्रकाश के आगमन का संकेत मिल रहा है। कितना मोहक है यह दृश्य! न तमस पूर्ण है न प्रकाश! जैसे दोनों एकदूसरे में मिश्रित हो गए हो। व्योम का यह रंग अनुपम है। इस रंग की तुलना किसी से नहीं हो सकती। इसे मैं मनभर देख लेता हूँ।’ वह अनिमेष नेत्रों से उस रंग को देखने लगा।
‘अरे! आकाश तो रंग बदल रहा है। धीरे धीरे रक्तवर्ण छा रहा है। नारंगी रंग भी उभर रहा है। नभ स्वर्णमय हो रहा है। जैसे किसी ने स्वर्ण को पिघलाकर दिशाओं में छिटक दिया हो। कौन है यह चित्रकार?’
वह मौन होकर उस चित्रकार की रचना को देखता रहा।

‘क्या यही उषा है? उषा ही होगी।’ वह पुन: मौन हो गया। सभी विचार शांत हो गए। उषा के साथ माधव का तादात्म्य हो गया। बाकी सब लुप्त हो गया।
थोड़ा समय बह गया। सुनहरा रंग बिखरने लगा। सूरज का प्रथम अंश क्षितज से निकल आया।
उसे देखते ही माधव हर्ष से चीख पड़ा। उछलकर उठ गया और अनायास ही सूरज की दिशा में चलने लगा।
सूरज क्षण क्षण कण कण उग रहा था। और वह उसकी तरफ खींचा जा रहा था। सूरज जब पूर्ण उग गया तब वह घर से दूर आ चुका था।
कई क्षणों तक वह सूरज की मृदु किरणों में नहाता रहा। जब उसकी दृष्टि पर सूर्य की परावर्तित किरण पड़ी तो वह चौंध गया। उसने आँखें बंद कर ली। क्षण पश्चात आँखें खोली और किरण की दिशा में देखा।
“वा... ह..। कितना आकर्षक है यह! ये रेत है या सुवर्ण रज? सूर्य की पीली किरणों ने रेत का रूप ही बदल दिया। चारों तरफ जैसे सोना बिखरा पड़ा हो।”
वह नीचे झुका। मुट्ठीभर रेत को उसने ऊपर उछाल दिया। रेत नीचे गिरने लगी।
“सोने की वर्षा हो रही है।” वह हर्षित हो गया। बार बार वह रेत को उछालता रहा, सोने की वर्षा का अनूठा दृश्य देखता रहा। हँसता रहा।
“तुम तो पागल हो रहे हो, माधव।”
शब्द सुनकर वह चौंक गया। सहसा स्थिर हो गया।
“मैंने कहा, तुम तो पागल हो रहे हो।”
“क्या? पागल? हाँ मैं पागल हो रहा हूँ।”
“मैं भी ऐसे ही पागल हो जाती थी।”
“तुम अभी तक कहाँ थी? या अभी अभी जागी हो?”
मालती ने अट्टहास करते हुए कहा, “पागल, मैंने ही तो तुम्हें जगाया था। मैं तो तुम्हारे साथ ही थी।”

“तो यह सब मुझे बताया क्यों नहीं?”
“बताती तो इस पागल को देख कैसे पाती?”
दोनों हंस पड़े।

- * *

दोपहर की धूप में चबूतरे की कुर्सी पर बैठा माधव मरुभूमि को देख रहा था। तभी गति से हवा बहने लगी। उस हवा को वह सह न सका। भीतर चला गया। वातायन को बंद करने के लिए आगे बढ़ा। उसकी दृष्टि अनायास ही बाहर की तरफ पड़ी। बाहर रेत के कण हवा में उड रहे थे। उसे वह देखता रहा। रेत के कण हवा के साथ उठते हुई ऊपर की तरफ जाते थे, कुछ आकृति बनाते हुई नीचे की तरफ आ रहे थे।
“ये आकृतियाँ कैसी बन रही हैं? किसी नर्तकी की नृत्य मुद्राओं जैसी तो नहीं क्या? क्या रेत नृत्य कर रहा है? इस खुले नृत्य मंच पर मुक्त नृत्य? यह तो अप्सराओं के लिए भी दुर्लभ है जो ये रेत कण को उपलब्ध है। मरुभूमि, तेरे कितने रूप हैं?”
“तुम सत्य कह रहे हो। अप्सराओं के लिए भी यह दुर्लभ ही है। तुम्हें आश्चर्य हो रहा है न?”
“अवश्य।”
“यहाँ जब हवाएं ऐसी चलती हैं तो रेत स्वयं नृत्य करती नृत्यांगना बन जाती है।”
“यह रूप तो अद्भुत है। किन्तु...।”
“किन्तु क्या?”
“बिना संगीत के कोई नृत्य कैसे कर सकता है?”

“प्रथम संगीत बजता है तभी नर्तकी नृत्य कर पाती है। बिना संगीत के कभी कोई नृत्य नहीं हो सकता।”

“कहाँ है संगीत?”

“नर्तकी से ध्यान हटकर हवा को सुनो।”

माधव ने आँखें बंद कर ली और हवा को सुनने लगा।

“क्या बात है? कितना सुंदर, कितना मधुर संगीत बज रहा है! नृत्य से भी बढ़कर है यह संगीत। ए हवा, तुम संगीत कैसे उत्पन्न कर लेती हो?”

“यहाँ की हवा बड़ी कलाकार होती हैं। संगीत भी बजा लेती है और रेत से नृत्य भी करा लेती है। ऐसे रूप को भोगते हुए कैसा अनुभव हो रहा है?”

“मैं नि:शब्द हूँ।”

“मौन से ही इसे भोगा जा सकता है।”

भोगते भोगते संध्या हो गई तब हवा ने अपनी गति थाम ली। मंद होती हुई थम गई। संगीत और नृत्य सम्पन्न हो गया तब माधव की आँखें खुल गई। नि:शब्द सा वह क्षितिज को देखता रहा। वहाँ सूर्य अपने अस्त को प्राप्त कर रहा था।

“प्रिये, तुम उसे देखते रहना। आज आकाश स्वच्छ है। सूर्यास्त अवश्य दिखेगा।”

वह देखता रहा उसी दिशा में।

“सूर्यास्त हो चुका है। संध्या भी विदा हो गई है। अब रात्रि का आगमन हो रहा है। घर से बाहर आ जाओ।” मालती के शब्दों को मानता हुआ वह बाहर आकर अपनी कुर्सी पर बैठ गया।

“कैसा रहा मरुभूमि के सूर्यास्त का और संध्या का अनुभव?”

“कदाचित देवताओं को भी दुर्लभ होगा यह!”

“अब और अधिक भोग भोगने को तत्पर हो क्या?”

“और अधिक? क्या मैं उन भोगों का अधिकारी हूँ?”

“तुम ही नहीं, समस्त मनुष्य अधिकारी हैं।”

“इन अधिकारों को हम खो क्यों देते हैं?”
“क्यों की मनुष्यों को अपने अधिकारों का संज्ञान ही नहीं होता है।”
“क्यों नहीं होता?”
“प्रकृति को त्यागकर हम अन्यत्र कहीं उलझ जाते हैं।”
“जैसे मैं?”
“तुम अभी उनमें क्यों पड रहे हो? अभी तुम प्रकृति के आँचल में हो। उसे भोग लो।” मालती ने स्मित दिया। “आकाश को देखो।”
वह देखने लगा। कुछ समय तक कोई कुछ नहीं बोला। वह आकाश में खो गया।
“क्या दिख रहा है, श्रीमान?”
“शी...श..।” माधव ने अपने होंठों पर उंगली रख दी। बस आकाश को निहारता रहा।
आकाश, दिशा, तारें, नक्षत्र, मालती और माधव! सभी स्थिर थे, केवल समय चलित था।
गतिमान समय ने पूर्णिमा के पूर्ण चंद्र को गगन में स्थापित कर दिया। चंद्र गति करता हुआ ऊपर आ गया। उसकी ज्योत्सना में तारों का तेज मंद होने लगा। मुखर उठी चंद्रिका से आकाश और अवनी भर गए।
संध्या के समय रक्तमय और उषा के समय स्वर्णमय बन जाती रेत पूर्ण धवल वर्णी हो गई। श्वेत रेत की कान्ति से आकृष्ट होता हुआ अनायास ही वह रेत पर चलने लगा।
उसके अनावृत चरणों को जब रेत का स्पर्श हुआ तो मालती बोल पड़ी, “रुक जाओ। रेत हिम सी शीतल होगी।”
वह रुक गया। झुका, हाथ से रेत को स्पर्श किया।
“हिम सी शीतल हो या नहीं, मैं नहीं जनता। किन्तु तुम हो शीतल, अधिक शीतल। मुझे तुम्हारी इस शीतलता का अनुभव करना है। सुना तुमने?” माधव ने शीतल रेत को हथेली में भर लिया और अनावृत चरणों से शीतल रेत पर

चलने लगा। उसके चरणों ने शीतलता से अनुकूलन साध लिया तब हथेली से रेत सरक चुकी थी।

वह चलता रहा, चाँदनी में भीगता रहा। सहसा उसके चरण अटपटी सी नृत्य मुद्राएं करने लगे, और अधर अटपटे से बोल बोलने लगे।

नाचते नाचते जब वह थक गया तो रेत पर बैठ गया। लंबी लंबी साँसे लेता हुआ लेट गया।

“रेत की शैया पर सोने का सुख ब्रह्मांड में मेरे उपरांत किसी को नहीं मिला होगा।”

“मिथ्या धारणा न करो, श्रीमान।”

“कैसी धारणा, श्रीमती जी?”

“मैं अल्प से अल्प एक व्यक्ति को जानती हूँ जिसने यह सुख भोगा है।”

“कौन है वह?”

“तुम भी उसे जानते हो।”

“मैं? कौन है वह?”

“उसे सारा संसार मालती के नाम से जानता था।”

“ओह..। तो तुम?” मालती ने अपने परिचित हास्य से उत्तर दिया।

“तो आओ मेरे समीप। आ जाओ मेरे आलिंगन में।”

वह समीप गई और माधव के आलिंगन में समा गई। माधव ने उसे कसकर अधिक समीप लाना चाहा किन्तु उसके हाथ कुछ नहीं लगा।

“कहाँ हो तुम? मुझे छलती हुई कहाँ चली गई?”

“मैं अब स्थूल रूप में नहीं हूँ। तुम्हें इस बात का विस्मरण कैसे हो गया?”

“ऐसे सुख में कोई कैसे यह सब स्मरण रख सकता है?”

“शृंगार रस को यहीं छोड़कर घर चलो, ठंड लग जाएगी।”

“तुम्हारे सनिध्य की ऊष्मा में रेत की शीतलता का भी विस्मरण हो गया।”

वह उठा और भीतर चल गया।

“भोजन से पूर्व गरम पानी पी लेना। अच्छा रहेगा।”
माधव ने तिरछी दृष्टि से मालती को देखा। वह दूर खड़ी हंस रही थी।

***

“तुम उषा और सूर्योदय के मोहपाश में बंध चुके हो।” वह चौंक गया। उसने मालती को अपने समीप पाया।
“कुछ तो है इसमें। जो भी इसे एक बार देख लेता है, उसके मोह में फंस जाता है।”
“जब मोह से मुक्त हो जाओ तो आ जाना चबूतरे पर। मैं कुर्सी पर तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी।”
“इस मोह से मुक्त होना कौन चाहेगा? किन्तु तुम्हारे प्रति भी मोह है तो...।”
“तो चलो मेरे साथ।”
दोनों घर के चबूतरे की कुर्सी पर बैठ गए।
“मालती, तुम यहाँ..।”
“आज कोई बात नहीं, कोई शब्द नहीं।”
माधव ने मालती को घूरकर देखा।
“आज हमारे विवाह की पचासवीं है। तुम हो, मैं हूँ और यह एकांत। तो कुछ बातें क्यों नहीं कर सकते?”
“बिना बात किए भी हम साथ हो सकते हैं।”
मालती मौन हो गई। माधव भी विवश हो गया। किन्तु उसका मन मौन में नहीं था।
‘इस अनंत भूमि में अनंत मौन है। जैसे कोई योगी मौन व्रत धारण किए हो। एक तो यह निर्जन है और ऊपर से मौन? यहाँ वृक्ष भी नहीं है कि पवन वेग से

उनके पत्तों के हिलने की ध्वनि भी सुनाई दे सके। आज तो वायु भी स्थिर है।
कितनी शांति है यहाँ? जैसे शांति का समुद्र !
यह शांति मुझे जला रही है। क्या यह शांति का दावानल है?'
माधव ने घड़ी देखि।
'अभी तो केवल आठ मिनिट ही हुई हैं। क्या पूरा दिन ऐसे ही मौन रहना होगा? समय कैसे कटेगा?
समय भी आज स्थिर हो गया है।
ओ समय, तुम भी थक गए हो क्या? इतनी मंद गति से क्यों चल रहे हो?'
समय ने माधव की बात नहीं सुनी। वह अपनी नियत गति से चलता रहा।
उसने आँखें बंद कर ली। मरु भूमि के मौन, वहाँ की शांति और वहाँ की स्थिरता ने उसे घेर लिया।
'ठहराव के इस पाश में ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मैं माता के गर्भ में हूँ। किसी मंदिर के गर्भ गृह में जो सुख, जो ऐश्वर्य का अनुभव होता है वही अनुभव मुझे हो रहा है। मुझे नींद आ रही है या मैं किसी उच्च समाधि में जा रहा हूँ?'
उसी अवस्था में समय की अनेक तरंगें बह गई। उसकी समाधि सम्पन्न हो गई तो उसकी आँखें खुल गई। दृष्टि के समक्ष उपस्थित दृश्य को देखकर चौंक गया।
"वहाँ सामने रेत का टीला था वह कहाँ गया?"
"यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं रहता। यहाँ मौन है, शांति है, ठहराव है किन्तु यहाँ प्रकृति अपने आकारों को बदलती रहती है। यह मरुभूमि है श्रीमान माधव जी।"
"तुम यहाँ हो? मैं तो भूल ही गया था।"
"तुम मुझे भूलते जा रहे हो यह अच्छी बात है।"
"अच्छी बात?"
"अब समय आ चुका है। मुझे जाना होगा। सदा के लीये।"
"कहाँ?"

“मेरी आत्मा की मुक्ति होगी।”
“तुम नहीं जा सकती। मैं तुम्हें...।”
“जिसका सर्जन होता है उसका विसर्जन अवश्य होता है। यही नियति है सभी की।”
“विसर्जन को रोक नहीं सकते?”
“विसर्जन ही नवसर्जन का मार्ग प्रशस्त करता है।”
“उस नवसर्जन में मैं...।”
“क्या तुम मेरी मुक्ति नहीं चाहते?”
“तुम्हें मुक्ति चाहिए, मालती?”
“यूं ही कोई मरियम मालती नहीं बनती।”
“तुम्हारी मुक्ति तो हो चुकी है। मैंने सम्पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से तुम्हारी उत्तरक्रिया क्रिया की है। अपने हाथों से तुम्हारी अस्थियों को उत्तरवाहिनी गंगा में वाराणसी जाकर बहाया है।”
“नहीं, अभी मेरी मुक्ति शेष है जो तुम मुझे दे सकते हो।”
“अब और क्या शेष रह गया करने को?”
“मेरे मोह को नष्ट करवाना होगा तुम्हें।”
“तुम्हें किसका मोह है?”
“इस स्थान का, तुम्हारे साथ संबंध का। ये मोह अति सूक्ष्म है। इनके नष्ट होते ही मेरी मुक्ति हो जाएगी। मुझे मुक्ति दिलाओगे?”
माधव को कुछ भी समज नहीं आया। मूढ़ सा वह मालती को देखता रहा।
“दुविधा को त्यागकर मैं जो कहूँ वह करो। करोगे न?”
उसने कोई उत्तर नहीं दिया।
“भीतर चलो।”
दोनों भीतर गए।
“इस पेटिका में बंद हमारे पत्रों को निकालो।” माधव ने वही किया।

“इन सारे पत्रों को चूल्हे पर रख दो।”

“क्या? तुम पागल हो रही हो। क्या करवा रही हो मुझ से?”

“अपनी मुक्ति।”

“ऐसे? कैसे?”

“जो कहूँ वह करते जाओ।”

“मैं नहीं करनेवाला।”

“कोई विकल्प नहीं है।”

दोनों चूल्हे के समीप गए। सारे पत्रों को उस पर रख दिया।

“इन्हें अग्नि को समर्पित कर दो।”

माधव ने कुछ नहीं किया। वह वैसे ही खड़ा रहा।

“जला दो इन्हें।”

“नहीं।” कहता हुआ माधव भीतर चला गया।

कुछ ही क्षण में उसने चूल्हे से निकलती अगन ज्वालाओं को देखा। वह चीखता हुआ दौड़ आया।

“सारे पत्रों को जला दिया न तुमने? कर ली न अपनी हठ पूरी?”

“तुमने नहीं किया तो मुझे करना पड़ा।”

माधव पत्रों की राख को देखते हुए नीचे बैठ गया।

“उठो। अभी कार्य पूर्ण नहीं हुआ है।”

“अब क्या चाहती हो तुम?”

“इस राख को एक पात्र में डाल दो और चलो मेरे साथ।”

लंबी साँसे भरते हुए माधव ने राख को पात्र में भर लिया और शक्ति हीन चरणों से मालती के पीछे चलने लगा। वह एक स्थान पर रुकी। वह भी रुक गया।

“यहाँ वायु दक्षिण से उत्तर की तरफ बहती है। जैसे उत्तरवाहिनी गंगा। पत्रों की राख को वायु के साथ बहा दो। उड़ती हुई वह मरुभूमि के कण कण में मिल जाएगी।”

“क्या होगा इससे?”

“मुझे मोक्ष मिल जाएगा।”

“तुम्हें मोक्ष चाहिए?”

“नहीं तो? मैंने कहा न कि कोई मरियम यूं ही मालती नहीं बन जाती।”

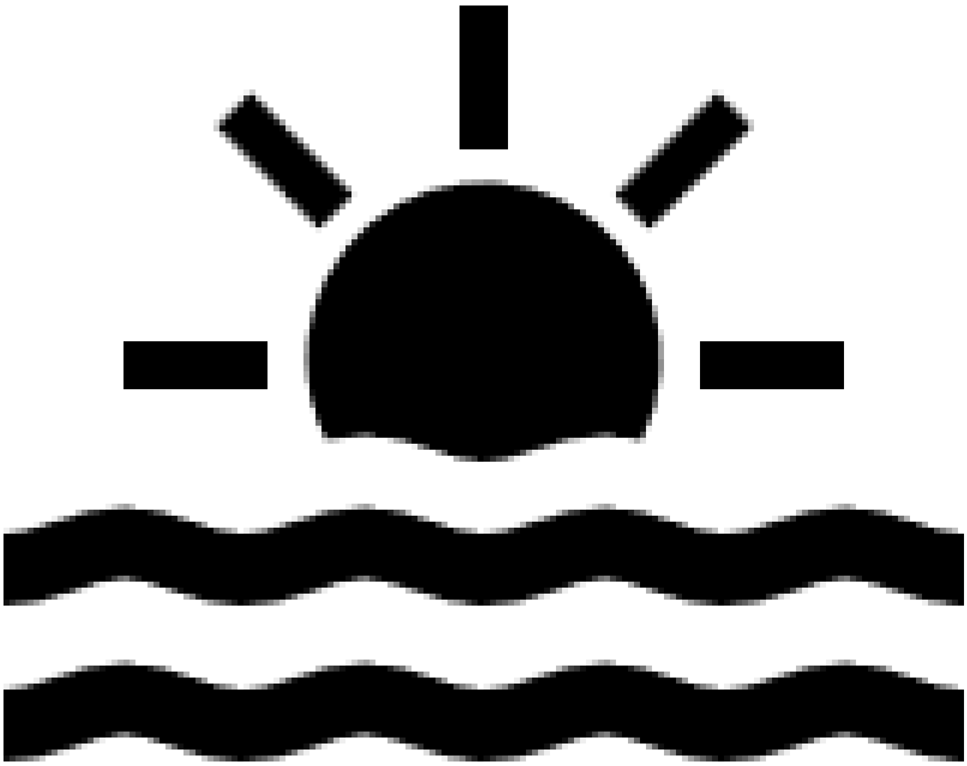
माधव ने राख के पात्र को देखा, शून्य दृष्टि से। यंत्रवत उसे खोल दिया। वायु उसे अपने साथ लेती उड़ा ले गई। दूर जाती उस राख को माधव स्थिर नयनों से देखता रहा।

जब राख दृष्टि से दूर चली गई तो उसने मालती की तरफ देखा। वह वहाँ नहीं थी। उसने सभी दिशाओं में देखा। वह कहीं नहीं थी।

वह घर की तरफ दौड़ा। चबूतरे पर स्थित दोनों कुर्सियाँ खाली थी। वह घर के भीतर गया। मालती घर के किसी कोने में नहीं थी।

पश्चात उस क्षण के माधव ने कभी भी, कहीं भी किसी भी रूप में मालती को न तो देखा न ही उसके होने का अनुभव किया।

सम्पन्न ।



8] अनुवाद

उस क्षण के पश्चात निरंतर बहती समय की न जाने कितनी ही धाराएं बह गईं किन्तु वे दोनों कभी नहीं मिले, कहीं भी नहीं मिले।

उस क्षण से वर्तमान क्षण तक उसने जो किया वह तपस्या का वर्णन करना किसी भी मनुष्य के सामर्थ्य में नहीं है। उस तपस्या का ही फल था कि वह मूल सर्जन का अनुवाद करने में समर्थ हो सकी। इसके लिए उस क्षण से पूर्व जो हुआ वही उत्तरदायी था।

क्या हुआ था उस क्षण से पूर्व?

उस क्षण से भी पूर्व की क्षणों में जो हुआ था वह होना ही उसकी नियति होगी। इसी नियति ने अपनी माया प्रकट कर दी थी।

उसके मित्र ने एक पुस्तक लिखी थी। उसका लोकार्पण कार्यक्रम चल रहा था। स्वयं उसे भी यह अनुमान नहीं था कि उसका मित्र पुस्तक लिख सकता है। आश्चर्य से खींची वह उस कार्यक्रम में जा पहुंची थी।

कार्यक्रम चलता रहा, पुस्तक पर चर्चा होती रही। मित्र सर्जन की प्रक्रिया के अनुभव, अपने मनोभावों को व्यक्त करता रहा। वह भी उसे, सभा के साथ साथ सुनती रही, समझने का प्रयास करती रही।

'जैसे जैसे मैं ये सब सुनती हूँ, मुझे अपना मित्र अपरिचित सा प्रतीत हो रहा है। इतने वर्षों से हम दोनों में गहन मित्रता है। किसी से कोई भी बात गुप्त नहीं है। तो उसका यह रूप, यह चरित्र आज तक मुझे दिखाई क्यों नहीं दिया? या मैंने ही देखा नहीं?

इसका का एक एक शब्द मुझे उसके व्यक्तित्व के उस पक्ष से परिचय करा रहा है जिसे साथ रहते हुए भी कभी मैंने पहचाना नहीं। कुछ ही क्षणों में मुझे लगने लगा है कि मेरा यह मित्र कोई अज्ञात व्यक्ति है जिसे मैं कभी नहीं मिली। कौन है यह?'

समय का वह खंड उसे किसी ज्ञात पहाड़ी की पगडंडी सा लगता रहा जिस पर चलकर उसे पहाड़ी चढ़नी थी। जैसे जैसे वह पगडंडी पर चलती जाती थी, ज्ञात सी पहाड़ी अज्ञात होती जा रही थी। वह थक गई। उसने पहाड़ी चढ़ने का मन त्याग दिया। किसी शीला पर बैठकर पहाड़ी को देखती हो वैसे सभागृह में बैठी वह अपने मित्र के पुस्तक पर हो रही बातों को सुनती रही, मित्र को देखती रही।

मित्र ने, उसकी पुस्तक ने और उस पर हुई चर्चा ने सभा को प्रभावित कर दिया। कुछ प्रश्न भी पूछे गए, उपस्थित श्रोताओं द्वारा। मित्र ने उसके उत्तम से उत्तम उत्तर भी दिए। प्रश्नोत्तर से सिद्ध किया गया कि मित्र की जो रचना है वह उत्तम है, भिन्न है, अनूठी है, अनुपम है। साहित्य विश्व में ये अपने प्रकार की प्रथम पुस्तक है। वहाँ उपस्थित साहित्यकारों एवं आलोचकों द्वारा उसे उत्कृष्टता का प्रमाणपत्र भी दे दिया गया।

अभी भी अनेक श्रोताओं के हाथ अपने प्रश्न लिए उठे हुए थे। मंच से घोषणा की गई, "अब केवल एक अंतिम प्रश्न का अवकाश शेष रहा है। उसके पश्चात यह सभा सम्पन्न होगी।"

वह उस अंतिम प्रश्न पूछने के लिए उठ खड़ी हो गई। सभी उसे ही देखने लगे। "मैं आपकी इस रचना का...।" मित्र ने उसे पहचान लिया। उसने प्रश्न को काटते हुए कहा, "आप तो मेरी मित्र हैं, आप मुझे कोई भी प्रश्न कभी भी पूछ सकती हैं तो यह अंतिम प्रश्न किसी और के लिए रहने देते हैं।"

मित्र के शब्द सुन उसे एक और आघात लगा। मौन होकर, आघात को पीकर वह बैठ गई। किसी श्रोता ने अंतिम प्रश्न पूछ लिया, मित्र ने उत्तर दे दिया।

पश्चात सभी ने एक साथ कह दिया, “यह रचना कालजयी है। ऐसी रचना समय से परे होती है। प्रत्येक युग के पाठक इस रचना को भोग सकेंगे।”

अन्य औपचारिकताओं के साथ सभा सम्पन्न हो गई।

एक एक कर सभी बिखरने लगे, सभा स्थल रिक्त होने लगा। कुछ प्रशंसकों ने मित्र को घेरा हुआ था। वह अपने स्थान पर बैठी रही, मित्र के अकेले पड़ने की प्रतीक्षा करती रही।

अल्प समय में आयोजक, मित्र को पत्रकारों के पास ले जाने लगे तब मित्र का ध्यान प्रतीक्षारत अपनी सखी पर गया। सखी उसे कुछ कहना चाहती थी, उससे बात करना चाहती थी किन्तु वह रुक न सका। ठगी सी वह उसे जाते हुए देखती रही। घर लौटकर उसने स्वयं को बंद कर लिया।

रात्रि के दो प्रहर व्यतीत हो चुके थे। वह अनेकों बार शैय्या पर गई थी, आँखें बंद कर चुकी थी किन्तु क्षण भर में ही आँखें खुल जाती थी। अज्ञात दृष्टि से छत को देखती, उठ जाती और गवाक्ष से बाहर देखती रहती।

गवाक्ष से गगन में क्रीडा कर रहे चंद्र को देखती, शीघ्र ही उससे मन भर जाता और लौट जाती शैय्या पर।

इस बार जब वो शैय्या से उठी, गवाक्ष पर गई और चंद्र को देखा तो चंद्र उसकी आँखों को देखकर डर गया। बादलों के पीछे छिप गया। यदि वह ऐसे नहीं छिपता तो कदाचित उसकी दृष्टि की ज्वाला से भस्म ही हो जाता।

उसके नेत्रों की अग्नि में भस्म होना मित्र के भाग्य में तो लिखा ही था जो इतनी निशा गए, रजनी के तीसरे प्रहर में उसके घर आया था।

“कौन हैं आप? इस प्रकार किसी अकेली युवती के घर इतनी रात्रि गए कोई चरित्रवान मनुष्य आया नहीं करते।” उसने मित्र को द्वार पर ही रोकते हुए अपनी मनोस्थिति का परिचय दे दिया।

“मैं हूँ।” वह बोला।

“मैं कौन? मित्र या सफल सर्जक?”

“मैं..।”

“मैं किसी सफल सर्जक से नहीं मिलना चाहती।”

“आपका क्रोध उचित है, सखी।”

“आपका? ये शब्द मित्र के नहीं हो सकते। हाँ, सर्जक महाशय के अवश्य हो सकते हैं। किसी भी सर्जक का मुझ अकेली के घर में आना अनुचित होगा।”

“आप..।”

“पुन: आप? ये क्या आप आप बोल रहे हो?”

“प्रारंभ तो आप ही ने किया था तो मुझे भी वही सम्बोधन करना होगा न?”

“मैंने?”

“मेरे यहाँ आते ही पूछा था आपने, ‘कौन हैं आप?’ स्मरण तो होगा।”

“वह तो मैं..।”

“अप्रसन्न थी न मुझ से?”

“क्या तुम भी मुझ से अप्रसन्न हो?”

“अप्रसन्न होता तो इस समय तुम्हारे द्वार पर थोड़े न आता?”

“मित्र बनकर आए हो या सर्जक?”

“सर्जक बनकर आता तो आज इस अवस्था में थोड़े न आता?”

“तो?”

“रात्रि के तीसरे प्रहर एक युवती के घर आने का अधिकार केवल मित्र को ही होता है, किसी सर्जक को नहीं।”

“एक सर्जक बातें बनाना, तर्क करना अच्छी तरह से जानता है।”

“जो भी हो, इस समय मैं भीतर आना चाहता हूँ, आ जाऊं क्या?”

“आ जाओ अब। बाहर अधिक ठंड है। बीमार पड गए तो सारा साहित्य जगत मुझे ही दोष देगा।”

वह द्वार से हट गई। मित्र भीतर आ गया। खुले हुए गवाक्ष को देखा, उसके समीप गया और उसे बंद कर दिया।

“खुला रहने देते?”
“तुम्हें ठंड लग चुकी है।”
“इतनी चिंता है मेरी?” मित्र ने सखी को स्मित दिया, मौन हो गया।
वह खड़ी रही, मित्र बैठ गया।
“क्या पीओगे?”
“कुछ नहीं, तुम बैठो न?”
सखी बैठ गई। कुछ समय तक मित्र सखी के बोलने की प्रतीक्षा करता रहा। किन्तु मौन ने सखी को नहीं छोड़ा। सखी के मौन के अर्थ को वह भली भांति जानता था।
“तुम सभा में कुछ पूछ रही थी। पूछो जो पूछना था।”
सखी ने पलकें उठाई, एक तीव्र दृष्टि मित्र पर डाली और पलकें झुका ली।
“तुम्हें प्रश्न पूछने से रोकने पर मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।” मित्र ने दोनों हाथ जोड़ दिए।
सखी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। कुछ निमेष मौन प्रतीक्षा पर भी कोई प्रतिक्रिया न आई तो वह उठा और सखी के समीप जाकर उसके कंधे पर हाथ रख दिया। सखी ने आँखें बंद कर ली, गहरी सांस ली।
सखी उस स्पर्श को जानती थी। जब जब वह उद्विग्न होती थी तब तब यही स्पर्श ने उसे संभाला था। मित्र के स्पर्श ने सारे बांध तोड़ डाले। वह सहसा रोने लगी।
मित्र ने उसे रोने दिया। समय अपने साथ सखी की पीड़ा को भी लेता चला गया। वह स्वस्थ हो गई।
“तुमने मुझे वहाँ रोका क्यों था?”
“उस समय मुझे लग रहा था की तुम कोई ऐसा वैसा प्रश्न पूछ डालोगी और मैं उसका उत्तर नहीं दे पाऊँगा।”

“सार्वजनिक मंच पर ऐसा वैसा प्रश्न पूछकर क्या तुम्हें दुविधा में डाल सकती हूँ? तुम्हारी उस समय की गरिमा को नष्ट कर सकती हूँ? कैसी सोच है तुम्हारी?”

उसके पास उत्तर नहीं था।

“वह प्रश्न क्या था? एक नहीं, जीतने चाहो उतने प्रश्न पूछ लो।”

सखी ने कुछ नहीं पूछा।

“क्या तुम ये पूछती कि वह सर्जन मैंने कैसे किया, कब किया?”

“नहीं। ऐसे प्रश्न तुम्हारे पाठक पूछते हैं। मैं तुम्हारी पाठक नहीं हूँ।”

“तो क्या पूछना था तुम्हें?”

सखी ने समय लिया, गहन सांस ली, छोड़ी।

“तुम्हारे उस सर्जन का अनुवाद करने की अनुमति मांग रही थी।”

“अनुवाद? तुम अनुवाद करना चाहती हो उस रचना का?”

“क्यों? नहीं कर सकती?”

“तुम कर सकती हो किन्तु मैं अनुमति नहीं दे सकता।”

“क्या किसी और को तुम अनुमति दे चुके हो?”

“नहीं तो?”

“तो क्या बात है?”

“किसी अनुवाद का अनुवाद कोई कैसे कर सकता है?”

“क्या?”

“जो रचना अपने आप में ही अनुवादित हो उसका अनुवाद नहीं करना चाहिए। अनुवाद तो किसी मौलिक सर्जन का होना चाहिए।”

“क्या कह रहे हो? जिस रचना पर तुम इतनी प्रशंसा प्राप्त कर रहे हो, जिस कालजयी रचना तुम्हारे नाम चड चुकी है वह मौलिक नहीं है? किसी अन्य की रचना का अनुवाद है? तुम ठग हो, ठग। तुमसे बड़ा ठग कोई नहीं हो सकता।”

वह दूर चली गई। गवाक्ष को खोलकर चंद्र को देखने लगी जो अभी भी बादलों के पीछे छिपा हुआ था।

वह उसके समीप गया, “सुनो तो।”

वह गगन को देखते देखते ही बोली।

“तुम सबके सामने क्यों नहीं बोले कि वह रचना तुम्हारी नहीं है? वह तो केवल किसी मौलिक रचना का अनुवाद मात्र है?” वह मित्र की तरफ घूमी, “कैसे बोलते? यदि बोलते तो उसी क्षण तुम्हारी कीर्ति, यश, सम्मान सब नष्ट हो जाता। हैं न?”

वह निरुत्तर रहा।

“अब बोलते क्यों नहीं? किसकी रचना चुराई है तुमने? कौन है वह रचनाकार? क्या नाम है उस मूल रचना का? मुझे बता दो, मैं सारे संसार को बता दूँगी। पश्चात देखना सारी प्रतिष्ठा, सारा मान-सम्मान क्षण भर में कैसे विलीन हो जाएगा।”

वह रुकी, मित्र के अत्यंत निकट जाकर बोली।

“एक काम करो, सूर्योदय से पूर्व ही भाग जाओ यहाँ से, इस नगर से कहीं दूर अज्ञात स्थल पर जहां तुम्हें कोई पहचान ही न सके। अन्यथा जब यह बात मैं संसार को बता दूँगी तब तुम्हें यहाँ से भागने का अवसर भी नहीं देंगे तुम्हारे पाठक, तुम्हारे प्रशंसक।”

वह मित्र का हाथ खींचकर उसे द्वार तक ले गई, “जाओ, भाग जाओ। इतना अवसर तो दे सकती हूँ तुम्हें। तुम्हारी सखी जो ठहरी।”

द्वार पर दोनों अटक गए।

“यह क्या पागलपन है? बिना कुछ सुने, बिना समझे न्यायाधीश बन बैठी हो? और अन्याय भी कर रही हो?”

“तुमने स्वयं अपना अपराध स्वीकार किया है तो अन्याय कैसा?”

“पूरा सुन तो लेती, समझ तो लेती।”

“क्या सुनूँ? क्या समझूँ?”
“यही कि मूल रचना क्या है? मूल रचनाकार कौन है?”
“कौन है?” वह उसे स्थिर दृष्टि से देखती रही।
मित्र ने स्वयं को शांत किया, स्मित के साथ कहा, “स्वयं ईश्वर, परमात्मा ही है मूल रचनाकार। मैं तो केवल अनुवादक ही हूँ।”
“बात को घुमा क्यों रहे हो? क्यों मुझे भटका रहे हो?”
“मैं सत्य कह रहा हूँ, सत्य कभी किसी को भटकाता नहीं है।”
“ईश्वर ने मूल रचना रची है, इससे बड़ा असत्य क्या हो सकता है?”
“इससे बड़ा सत्य भी तो नहीं है इस संसार में।”
“भटकाने के साथ साथ तुम मुझे उलझा रहे हो, मूर्ख समझ रहे हो।”
“क्या मैं भीतर आ सकता हूँ?” मित्र के इस प्रश्न से सखी को ध्यान आया कि दोनों घर के द्वार पर ही खड़े थे। वह द्वार से हटकर भीतर आ गई। एक स्थान पर बैठ गई। मित्र उसके सम्मुख बैठ गया।
कुछ समय वैसे ही व्यतीत होने दिया दोनों ने।
“अब कुछ बोलोगे या तुम्हारा मौन भी मेरे लिए नई पहेली प्रस्तुत करेगा?”
“अर्थात तुम मुझे सुनने को सज्ज हो।”
सखी ने नयन कटाक्ष से मित्र को देखा। मित्र ने स्मित से उस कटाक्ष का स्वागत किया।
“इस संसार में जितनी भी कलाकृतियाँ हैं वे सभी मेरे जैसे किसी न किसी व्यक्ति द्वारा अनुवादित ही है। मूल रचना तो ईश्वर की ही होती है।”
“वह कैसे?”
“सृष्टि के प्रारंभ में ही ईश्वर ने सभी कलाकृतियों को बनाके रखी हैं। वह हम सब को उन्हें निरंतर दिखाता रहता है। देखते सब हैं किन्तु अल्प मनुष्य ही उनका दर्शन कर पाते हैं। जिन्हें दर्शन हो जाता है उनमें से भी अल्प ही उनकी अनुभूति कर पाते हैं। उनमें से भी कुछ गिने चुने मनुष्य ही उन रचनाओं का

मानवीय स्तर पर अनुवाद कर पाते हैं। ऐसे मनुष्यों को हम कलाकार कहते हैं। किन्तु सबसे बड़ा, सबसे मौलिक कलाकार तो केवल ईश्वर ही होता है।”

“इतने सारे भारी शब्द?”

“अर्थात?”

“देखते हैं किन्तु दर्शन नहीं करते। क्या अर्थ है इसका?”

“जिसे हम देखते हैं क्या उन सभी का दर्शन हम कर पाते हैं? देखना एक स्तर है, दर्शन उसके आगे की अवस्था है। देखना बाह्य आकृति को देखना होता है, जब हम उसके भीतर उतरते हैं, उसके गुणों को जानने लगते हैं तभी उसका दर्शन कर पाते हैं। पश्चात उससे जुड़ना अनुभूति है। उस अनुभूति को सामान्य मनुष्य तक उसकी समज अनुसार ले जाना अनुवाद है। इस प्रकार मूल रचनाकार तो कोई और है, हम तो केवल अनुवादक हैं।”

“अभी भी मेरी मति में बात नहीं उतरी है।”

मित्र ने गहरी सांस ली, घड़ी के लिए रुका और उठकर पानी ले आया।

“इसे पी लो।” सखी ने एक ही घूंट में सारा पानी पी लिया। मियत्र ने धीरे धीरे पानी पिया।

“हम सब पत्थर को देखते हैं, शिल्पी उसमें शिल्प का दर्शन कर लेता है। उषा, संध्या, वर्षा, बादल, चाँदनी आदि दृश्यों को हम देखते हैं किन्तु चित्रकार उसमें चित्रकारी का दर्शन कर लेता है। हवा के कारण पत्तों को और तिनके को उड़ते हुए देखते हैं किन्तु नृत्यकार उसमें नृत्य का दर्शन पाता है। हम माटी को देखते हैं, कुम्हार उसमें घड़े का या मूर्ति का दर्शन कर लेता है। हमारे कानों में निरंतर अनेक ध्वनियाँ पड़ती है किन्तु संगीतकार उसमें रागों को सुन लेता है। अनेकों घटनाएं हमारे समक्ष और हमारे साथ घटती रही है जिन्हें हम सुख-दु:ख मानकर भूल जाते हैं। लेखक उसमें किसी कथा का या कविता का दर्शन कर पाता है।

ये सभी कलाकार उनमें से ही अपनी कला का सर्जन करते हैं। हम उन्हें ही मूल सर्जक मान लेते हैं। हम ही नहीं, वे कलाकार भी इसी भ्रम में रहते हैं की उन्होंने ही उसे रचा है।"

"तुम भी इसी भ्रम में रह सकते हो, क्यों नहीं रहते?"

"मैं मूल रचनाकार को जानता हूँ। उससे छल नहीं कर सकता।"

"वे सभी तो कर रहे हैं। क्या वे मूल सर्जक को नहीं जानते?"

"किन्तु मानते नहीं हैं।"

"ऐसा क्यों?"

"वह उनकी समस्या है।"

"ठीक है। जाने दो। किन्तु कलाकार को मूल रचना कैसे दिख जाती है?"

मित्र ने समझ लिया उस गहन प्रश्न को।

"जब हम कुछ देखकर उसकी अनुभूति कर रहे होते हैं तब एक क्षण ऐसा आता है जब हमारे ह्रदय के स्पंदन सहसा बढ़ जाते हैं या चूक जाते हैं। उस क्षण में भय होगा या आनंद होगा या रोमांच होगा या सब कुछ होगा। वह क्षण असाधारण होगा। उस क्षण को पकड़ लेना। वही क्षण सर्जन की होती है। यही क्षण ईश्वर के साक्षात्कार की होती है।"

मित्र ने कुछ क्षण विराम लिया। सखी अनिमेष उसे सुन रही थी। आँखों में असीम जिज्ञासा थी।

"ईश्वर प्रकृति के किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाता है। अपने मौलिक सर्जन से परिचय करा जाता है। कलाकार उस क्षण का अनुवाद कर लेता है, अपनी कला में। तभी अद्‌भुत और कालजयी सर्जन स्वत: रच जाता है।"

मित्र ने बात पूर्ण कर ली थी किन्तु वह उसे अभी भी देख रही थी, सुन रही थी। जैसे मित्र के शब्द प्रतिघोष बनकर अभी भी उसके कानों पर पड रहे हो! समय के साथ प्रतिघोष शांत हो गए। तो उसके मन में नई जिज्ञासा जन्मी।

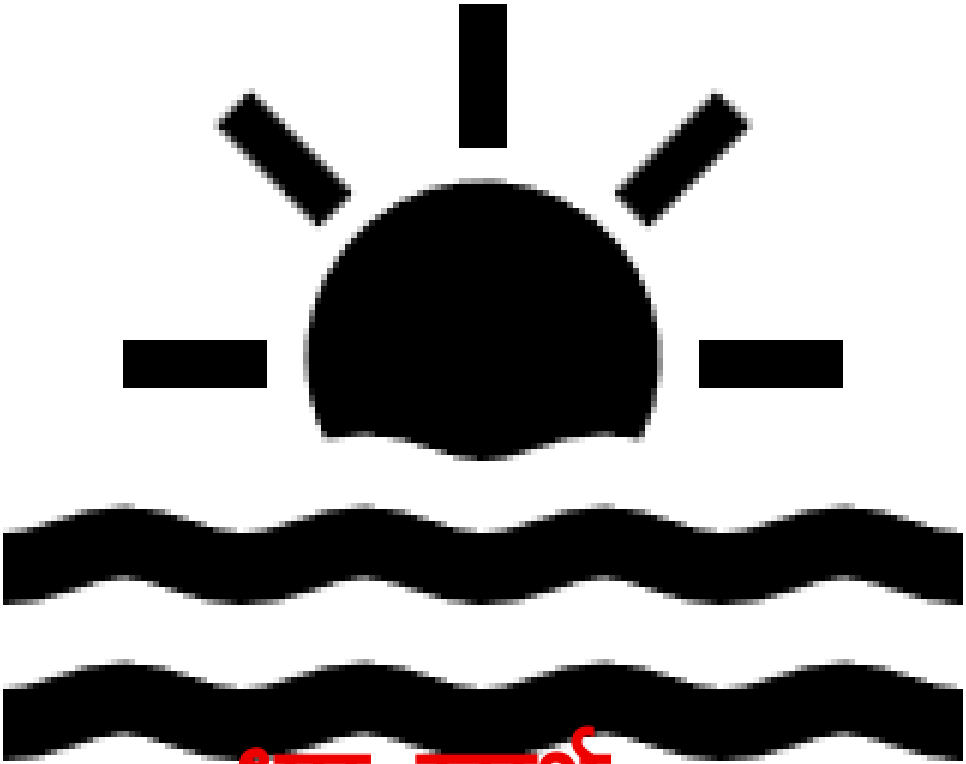
“ऐसी क्षण कब आती है?”
मित्र ने विचारने का समय लिया। स्वयं दुविधा में पड गया। ।
“इसका कोई निश्चित समय नहीं होता। जब ईश्वर अपनी रचना का अनुवाद करवाना चाहता है तब वह किसी को चुनता है। उस समय ऐसी क्षण आ जाती है।”
मित्र ने सखी को देखा। सखी के मुख पर अभी भी कुछ रेखाएं ऐसी थी जो मित्र से कुछ पूछ रही थी। उसने उसे पढ़ा।
“हम धरती में बीज बो देते हैं। कुछ दिनों के पश्चात एक प्रभात को हमारा ध्यान जाता है कि उस बीज से अंकुर फुट निकले हैं। देखा है न?”
उसने पलकों से उत्तर दिया।
“कौन सी क्षण में बीज से अंकुर निकला होगा, बता सकती हो?”
“मैं नहीं जानती। क्या इसे जाना जा सकता है?”
“अवश्य। उस बीज पर अविरल दृष्टि बनाये रखनी होती है। तभी बीज से अंकुर फूटने की क्षण को पकड़ सकते हैं।”
“इसके लिए तो सूक्ष्म दृष्टि और विशाल धैर्य की आवश्यकता पड़ती है।”
“कलाकार वही तो करता है। उसके पास सूक्ष्म दृष्टि और अटूट धैर्य होता है। तभी तो वह उस क्षण को पा लेता है। जो उस क्षण को आत्मसात कर लेता है वही अनुवाद कर सकता है।”
मित्र चुप हो गया। सखी गहन विचार में खो गई।
अनेकों क्षण के साथ रात्रि का अंतिम प्रहर बीत गया। ब्रह्म मुहूर्त में वह अपनी विचार नदी से स्नान सम्पन्न कर बाहर आई तब उषा का आगमन हो चुका था। वह उठी, द्वार खोला और आँगन में स्थित पुष्प के पास जाकर रुक गई। पुष्प को अनिमेष देखती रही। सहसा वह बोल पड़ी, “इस पुष्प पर भँवरा मंडरा रहा है। इस पर ऑस की बुँदे हैं। उस पर सूर्य की कोमल किरणें पड रही हैं जो

मेरी आँखों में उतरकर कुछ तो रचना कर रही हैं। क्या है यह? तुम बता सकते हो ये क्या है?”

उत्तर की अपेक्षा में उसने मित्र की तरफ देखा। मित्र वहाँ नहीं था। वह जा चुका था।

उस क्षण के पश्चात निरंतर बहती समय की न जाने कितनी ही धाराएं बह गई किन्तु वे दोनों कभी नहीं मिले, कहीं भी नहीं मिले। किन्तु साक्षात्कार की उस क्षण में सखी मूल रचना से एकाकार हो गई।

सम्पन्न



धूप स्पर्श

व्रजेश दवे


कथा संग्रह
धूप
स्पर्श
लेखक
व्रजेश दवे